ISSN 2320-6454

वाङ्मय गौरवम्
VANGMAYA GAURVAM

अंक : 7 वर्षः 3 अप्रैल-जून 2014

त्रैमासिकी

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A referred Research Journal)



सम्पादकः डॉ. पारस राम शास्त्री

अध्यक्ष

जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू -181123

J&K SANSKRIT SOCIETY, JAMMU-181123

ISSN 2320-6454

वाङ्मय गौरवम्

VANGMAYA GAURVAM

त्रैमासिकी

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Referred Research Journal)

अंक ७, वर्ष ३, अप्रैल--जून २०१४



सम्पादक

डॉ. पारस राम शास्त्री
अध्यक्ष

जम्मू काश्मीर संस्कृत परिषद,

४२/११ वरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-[illegible]११२३

सम्पर्क सूत्र- ९४१९१४७०७३, ९४१[illegible]२१७३५

सम्पादक-मण्डल

प्रकाशक **जम्मू काश्मीर संस्कृत परिषद,**
४२/११ वरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३
सम्पर्क सूत्र- ९४१९१४७०७३, ९४१९२२१७३५
e-mail: jksanskritsociety@gmail.com

एक प्रतिशुल्क : रु० ७५ पचहत्तर रुपये
वार्षिक शुल्क : रु० ३०० तीन सौ रुपये।
पंच-वार्षिकशुल्कः रु० १४०० चौदह सौ रुपये।

विक्रमी सम्वत् २०७१।

मुद्रक : शिवा प्रिंटर्स पास अयुर्वेद डिसपेन्सरी पलौढ़ा, जम्मू -१८११२१
सम्पर्क सूत्र- ९४१९७४०७२९, ९४१९१८४३६७

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

भारतीय-संस्कृति का मूल संस्कृत

"संस्कृति" शब्द संस्कृत भाषा का है। संस्कृत-व्याकरणानुसार "सम्" उपसर्गपूर्वक "कृञ्" धातु से "क्तिन्" प्रत्यय होने पर "संस्कृति" शब्द निष्पन्न होता है। उसका सरल अर्थ है "उत्तमकृति" अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि की उत्तम चेष्टाएं या हलचलें। इनमें लौकिक, पारलौकि, धार्मिक आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी प्रकार के अभ्युदय-उन्नति के अनुकूल चेष्टाएं आ जाती है। वैसे तो देहादि की अच्छी-बुरी सभी चेष्टाएं "कृति" हैं, किन्तु उनमें अच्छी, सम्यक्, उत्तम चेष्टाएं ही "संस्कृति" (सम+कृति) कही जाती है।

भारतीय-संस्कृति के मूलधार हैं-वेद, पुराण, शास्त्रादि सद्ग्रन्थ। इन पुनीत ग्रन्थों की रचना आर्यों की आदिभाषा संस्कृत में हुई थी और आज भी वह भारतीय ग्रन्थों के पृष्ठों पर समुद्भासित हो रही है। अनेक उतराव-चढ़ाव आये, भाषाओं के कितने रूपान्तर हुए, फिर भी यह उसी रूप में विद्यमान् है। इसका कारण यही रहा है कि हम अभी तक अपनी संस्कृति से पृथक् नहीं हो पाये हैं। साथ-साथ महान् परिवर्तन के युगों में भी भारतीय संस्कृति अक्षयरूप से विद्यमान रही और इस पर किसी प्रकार की आंच न लगी। इसका श्रेय यदि किसी को है तो वह इस अमर भाषा को ही। हम तो नयी रोशनी वाली कान्त-कामिनियों की तरह नित्यनूतन तरूणी सभ्यताओं के चक्रमें पड़कर अपनी बूढ़ी मां को सर्वथा भूल बैठे थे, फिर भी यह वात्सल्य की प्रतिमूर्ति कसक और वेदना की घड़ियों में दिन काटती, सदियों से सोये हुए अपने प्यारे लाड़लों के सिरहाने बैठी सिर सहलाती चली आ रही है।

सारांश यह है कि हिन्दू, हिन्दी तथा भारत की जन्मदात्री, पोषिका, और प्रकाशिका यदि कोई है तो वस संस्कृत-भाषा ही – इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। आज भले ही हमारे बीच इसका सम्मान हो या न हो, पर था वह एक समय, जबकि देश के कोने-कोने में इसी की ध्वनि गूंजती थी, सर्वत्र इसी के शुभ गीत गाये जाते थे। सभी श्रेणियों के नर-नारी, बाल-वृद्ध, मनुज-दनुज इसी भारती के परम भक्त बने रहते थे। इतना ही नहीं, पौराणिक अख्यानों से स्पष्ट होता है कि पशु-पक्षी भी इसी पवित्र भाषा के आश्रयमें रह कर विशुद्ध वैदिक ज्ञान एवं परिमार्जित शब्द-साधनों के शास्त्रार्थ में लीन रहा करते थे, जिसे देखकर भगवान् शङ्कराचार्य भी विस्मित रह गये दूसरों की बात ही अलग है। जिस समय यह भाषा भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा के आसन पर सुशोभित थी, सम्पूर्ण देश में इसी का सर्वाङ्गिण विकास तथा प्रचार था। हमारा सांस्कृतिक विकास उन्नति के उस समुन्नत शिखर पर पहुंच चुका था, जिसे देखकर विदेशी विस्मित होते और भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। अपि च बड़े-बड़े पाश्चात्य मनीषी इसी भारतीय संस्कृति की शीतल एवं सुखद छत्र-छाया में पलकर अतुल शान्ति तथा अनुपम विश्राम प्राप्त करने के लिये उत्सुक रहा करते थे। संस्कृति तथा भाषा के इतिवृत्तों के अध्ययन से पता चलता है कि इसी देव वाणी के बहुमूल्य योगदान के फलस्वरूप वृद्ध भारतवर्ष ने सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व तथा सभी देशों में जा-जाकर अपनी सभ्यता, संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास किया था। उस समय इसकी अवाधगति थी। अस्तु, सभी क्षेत्रों में पहुंच-पहुंचकर इसने असभ्यों को सभ्य, मूकों को वाचाल, पङ्गुओं को चलने योग्य, दिग्म्बरों को दिब्याम्बराभूषित और वनचरों को अपना सहचर बना साहित्य, संगीत, शिल्प, कृषि तथा वास्तुकला आदि विविध कलाओं का ज्ञान कराया था। आज भले ही इसे कोई माने या न माने पर बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानों ने ऊर्ध्व बाहु हो यह प्रमाणित किया है कि भारतवर्ष केवल हिन्दुओं के धर्म तथा संस्कृति का ही

नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत् के धर्म तथा संस्कृति का आदि स्रोत है। साथ ही बड़े गर्व के साथ यह भी उद्घोषित किया है कि सारे भूभाग की भाषा कभी एकमात्र संस्कृत ही थी।

जिस समय देश की तिल-तिल भूमि संस्कृत-भाषा की सुरसरिधारा से परिप्लवित होती थी। उस समय भारतवर्ष ने ऐसे-ऐसे दार्शनिक (महर्षि कपिल, महर्षि पंतजलि, महर्षि जैमिनि, भगवान् शङ्कराचार्य, श्री मध्वाचार्य आदि), वैज्ञानिक (चरक, सुश्रुत वराहमिहिर, आर्यभट्ट आदि), साहित्यिक (आचार्य भरत, धनञ्जय, विश्वनाथ, राजशेखर, मम्मट, आदि) इतिहासकार, (मनु, वेद व्यास, याज्ञवल्क्य, आदि), कलाविद् एवं वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों को समुत्पन्न किया था, जिनके पावन संस्मरण से ही हम धन्य हो जाते हैं तथा जिनकी कीर्ति-गाथाओं को सुन हम फूले नहीं समाते और आज भी सभ्य-जगत में गर्वोन्नत हो सिर उठाकर चल रहे हैं। इस परमपवित्रा भारत-भूमिपर अंग्रेजों का प्रभुत्त्व क्रमशः स्थापित होकर ही रहा। जिस समय यहां इन विदेशियों का पदार्पण हुआ था, हम भारतीय इनकी दृष्टि में केवल पशु समझे और लाठियों से हांके जाते थे, पर इन्हें जब इसी गीर्वाणी के एक सेवक कवि कालिदास की कृति अभिज्ञानशाकुन्तलम तथा रघुवंश महाकाव्य का दर्शन हुआ, तब इन्हें दंग रह जाना पड़ा।

भारत के सांस्कृतिक विकास काल के अन्तर्गत संस्कृतग्रन्थों में ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक एवं कलात्त्मक रहस्य प्राप्त होंगे, जिनकी छाया को छूने में भी आज का समुन्नत विकासवाद मुख मोड़ लेता है, वहां तक पहुंचने की बात तो सर्वथा दूर ही है।

आज नये जगत् की नयी सभ्यता और नूतन विकासवाद की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें भी उसमें अनोखी विशिष्टता, नवीनता, पूर्णता, एवं महत्ता का आभास मिलता है। हमारे नेत्रों के समक्ष ऐसी चकाचौंध उपस्थित हो जाती है कि उसकी नयी चमक-दमक से आकर्षित हो हम उसी ओर लपक तो पड़ते हैं, पर क्या इससे हमारा यह नैतिक एवं सामाजिक स्तर ऊंचा उठता है, जो हमारे प्राचीन सांस्कृतिक विकासवाद से सम्भव था? कदापि नहीं इससे हमारे चर्मचक्षु भले ही अभिभूत हो जायें, हमारा बाह्य जीवन देखने में भले ही आदर्श-सा प्रतीत होने लगे, पर अन्तर्जीवन तो सदा ही उस चमत्कारपूर्ण रहस्य की खोज में रहेगा, जिसके आश्रय में पलकर हमारे पूर्वज वास्तविक रहस्य, उन्नति, अनन्त सुख, शान्ति तथा विश्राम की सहज उपलिब्ध में सतत निमग्न रहा करते थे। सच तो यह है कि नवीनतम विकासवाद के ऐन्द्रजालिक रंगमें सराबोर हो हम अपने वास्तविक रूप को सर्वथा खो बैठे हैं, जिससे हमारा वह वास्तविक रूप दिखाई नहीं पड़ता। हमें तो उसी रहस्य का अन्वेषण करना चाहिये, उसी तत्त्व का पता लगाना चाहिये। जिससे हमारा सर्वदेशीय जीवन उसी प्राचीन आदर्शपर पहुंच सके, हमारा देश और समाज पुनः उसी पदपर आसीन हो सके।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि संस्कृत भाषा आदिकाल से भारतीय संस्कृति की पोषिका रही है। केवल समग्र भारत प्रत्युत संसार उसे समादर की दृष्टि से देखता है। भारतीय संस्कृति की धरोहर विज्ञान, कला, गणित, सांख्यिकी, इतिहास, भूगोल, खगोल, धर्मशास्त्र, कानूनशास्त्र, ज्योतिष, चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, राजनीति, शिल्प और स्थापत्य, नाटक, कामशास्त्र, नैतिकता, दर्शन-सभी कुछ संस्कृत में था और है। जिस से यह सुस्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति के बीजारोपन से लेकर पल्लवित एवं पुष्पित होने में संस्कृत भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और रहेगा।

जयतु संस्कृतम् जयतु भारतम्

डॉ. पारस राम शास्त्री
संपादक
वाङ्मय गौरवम

समासविचारः

डॉ. पुशविन्दर कुमारः
राजकीयमहाविद्यालयः राजौरीः

"समसनं समासः"[१] स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः। समसनं शब्दस्यायमभिप्रायः मिलनमित्यर्थः। तच्च पृथगर्थपदानामेकार्थोपस्थितिजनकत्वरूपमित्यर्थः। तत्र समसनमनेकेषां पदानामेकं पदमित्यादि यत्संक्षपणं समासः कथ्यते। यद्वा नाम्नी च नामानि च तेषां नाम्नामेकशेषः समासः। तेन द्वयोरपि नाम्नोर्बहूनां च नाम्नां समासो भवति। स च समासो बहुविधोभवति। समासविषये विद्वद्भिः मत-मतान्तराणि प्रदत्तानि सन्ति। केषाञ्चिन् मते समासः पञ्चधा केषाञ्चिन्मते षड्विधा, केषाञ्चिन्मते चतुर्धा एवंच केषाञ्चिन्मते अष्टविध इति भवति।

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुषः कर्मधारयो येनाहं स्याम्बहुव्रीहिः।।[२]

अत्र द्वन्द्वसमासः, द्विगुसमासः, अव्ययीभावसमासः, तत्पुरुषसमासः, कर्मधारयसमासः, बहुव्रीहिसमासः इति समासः षड्विधः परिगणितोऽस्ति। **'सुगमसंस्कृतव्याकरणे'**[३] अव्ययीभावः समासः, तत्पुरुष समासः, कर्मधारयः समासः, द्विगुः समासः, बहुव्रीहिः समासः, द्वन्द्वः समासः, नञ् तत्पुरुषः समासः, अलुक् समासः अष्टविधा परिगणिताः सन्ति। अत्र मुख्यतया समासः षड्विधः परं सामान्यतया नञ्तत्पुरुष समासालुक्समासौ च भवतः।

लघुसिद्धान्तकौमुद्यानुसारेण"[४] समासः पञ्चधा। तद्यथा केवलसमासः, अव्ययीभावः समासः, तत्पुरुषः समासः अस्यैव तत्पुरुषसमासस्य भेदः कर्मधारयः कर्मधारयस्य भेदः द्विगुः परं प्रायेणान्यपदार्थप्रधाने बहुव्रीहिः समासः, द्वन्द्वः समासः इति पंचविधं लिखितः। **"सिद्धान्तकौमुद्यानुसारेण"**[५] समासः पञ्चधा इति लिखितम्। तद्यथा-अव्ययीभावः समासः, तत्पुरुषः समासः, बहुव्रीहिः समासः, द्वन्द्वः समासः, एकशेषः समासः इति। "सारस्वतव्याकरणानुसारं"[६] समासः षड्विधः। तद्यथा-अव्ययीभावः समासः, तत्पुरुषः समासः, द्वन्द्वः समासः, बहुव्रीहिः समासः, कर्मधारयः समासः, द्विगुः समासः इति।

"प्रक्रियाकौमुद्यानुसारेण"[७] समासश्चतुर्धा यथा अव्ययीभावः समासः, तत्पुरुषः समासः द्विगुकर्मधारयौ तत्प्रभेदौ भवतः, बहुव्रीहिः मासः, द्वन्द्वः समासः इति। अत्र प्रक्रियाकौमुद्यां तत्पुरुषस्य भेदः द्विगुः। एवंच कर्मधारयः इतिस्वक्रियते। **"शब्दकौस्तुभानुसारेण"**[८] समासः षड्विधः तद्यथा-

सुपां सुपा तिङन्तं नाम्ना धातुनाऽथ तिङन्तं तिङन्तं।
सुबन्तेनेति च प्रोक्तः समासः षड्विधो बुधैः।।

इति लिखितम्। वासुदेवभट्टेन स्व सारस्वतचन्द्रिकायां[९] समासः षड्विध इति लिखितम्। तद्यथा-

१) अव्ययीभावः समासः २) तत्पुरुषः समासः ३) द्वन्द्वः समासः ४) बहुव्रीहिः समासः (५) कर्मधारयः समासः (६) द्विगुः समासः इति।

अव्ययीभावसमासः -

न व्ययं अव्ययं तेषां अव्ययानां भावः अव्ययीभावः इति। प्रायेण पूर्वपदार्थ-प्रधानः। पूर्वश्चासौ पदार्थश्च पूर्वपदार्थः, स प्रधानोयस्मिन् स पूर्वपदार्थप्रधानः। यस्मिन् समासे पूर्वपदार्थस्य प्राधान्यं सोऽव्ययीभावः तद्यथा **अधिहरि** इति।

"अव्ययीभावः"[10] पूर्वपदार्थप्राधान्यमव्ययीभावः। अधिकरोऽयम्। एकसंज्ञाऽधिकारोऽपि अनया संज्ञया समाससंज्ञा न बाध्यते। अव्यये पूर्वपदे सति योऽन्वयः सोऽव्ययीभावसंज्ञकः समासो भवति। यथा **"अधिहरि"**[11] सुबन्तमव्ययं सुवन्तेन सह एकार्थभूतं सत् समाससंज्ञं स्यात्ततो अव्ययीभावसंज्ञमित्यर्थः। माघेन स्व ग्रन्थे लिखितम्।

रतैर्हिया यत्र निशाम्य दीपान् जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः।
बिभ्युर्विडालेक्षणभीषणाभ्यो वैडूर्यकुड्यषुशाशिद्युतिभ्यः।।[12]

अत्र अधिगृहं इत्यत्रं अधि अव्ययस्य प्रयोगोदृश्यते। एवंच-

जातप्रीतिर्या मधुरेणानुवनान्तं कामे कान्ते सारसिकाकामुरुतेन।
तत्सम्पर्कं प्राप्य पुरा मोहनलीलां कामेकान्ते सा रसिका का कुरुते न।।[13]

श्लोके अनुवनान्तं इत्यत्र अनु अव्ययस्य प्रयोगोऽस्ति।

प्रसृतं रभसादयोऽभिनीला प्रतिपादं परितोऽभिवेष्यन्ती।
नतुरायतिशालिनी महाहे गर्जमन्दूरिव निश्चलं चकार।।[14]

अत्र प्रति अव्ययस्य प्रयोगोवर्त्तते। भट्टिकाव्य लिखितम्-

उपाग्नूकुरुता सख्यमन्योन्यस्य प्रियंकरौ।
क्षेमंकराणि कार्याणि पर्यालोचयतां ततः।।[15]

अत्र उप अव्ययस्य प्रयोगोऽस्ति। किरातार्जुनीये लिखितम्-

सम्भेगक्षमगहनामथोपगंग विभ्राणां ज्वलितमणीनि सैकतानि।
अध्यूषुश्च्युतकुसुमाचितां सहाया वृत्तारेरविरलशाद्वलां धरित्रीम्।।[16]

द्वन्द्वः समासः – उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः।

उभयपदार्थप्रधानो यस्मिन् सः उभयपदार्थप्रधानः। यस्मिन् समासे उभयपदार्थस्य प्राधान्यं भवति सः द्वन्द्वसमासः उच्यते यथा रामलक्ष्मणौ इति।

चार्थः चतुर्धाः भवति। तेषु इतरेतरसमाहारयोरर्थयोः भवति। द्वन्द्वसमासः समुच्चयः, अन्वाचयः इतरेतरः, समाहारः भेदात् विद्यते। एतेषामुदाहरणानि पृष्टतले लिखामि।

समुच्चयः यथा – ईश्वर गुरुंच भजस्व।
अन्वाचयः यथा – भिक्षामटगां आनय।
इतरेतरः यथा – रामलक्ष्मणौ।
समाहारः यथा – कुशकासम्, धवखदिरौ।

पुनः द्विविधः, लुक समासः, अलुक् समासश्चेतिं तत्र तनुरेव लता तनुलता इत्यत्र विग्रहे सुपः लुक् भवति। अलुक् समासः यथा – वने चरतीति वनेचरः। अत्र वनशब्दोत्तरस्य सुपः अलुकि वनेचरः इति। द्वन्द्व समासः तद्यथा – माता च पिता च पितरौ इति।

"चार्थे द्वन्द्वः"[17] चस्य अर्थश्चार्थः तस्मिन् चार्थे सप्तम्येकवचनम्। द्वन्द्वः प्रथमैकबचं भवति।

द्विपदमिदं सूत्रत्। अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वसमासः। **"रामलक्ष्मणौ"** रामश्च लक्ष्मणश्च इत्यत्र चार्थेषु समाससम्बवा संभव भवति, तत्र **"समुच्च्यान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः"**।[१८]

समुच्चयः –

तत्र कर्मद्वयस्यैकक्रियानिष्ठत्वं समुच्चयः। यदा परस्परनिरपेक्षाः पदार्था एकस्मिन् सम्बन्धिनि समुच्चीयन्ते तदा समुच्चयो यथा **"ईश्वरं गुरुंच भजस्व"**[१९] एकस्या एव भजन क्रियाया ईश्वरगुरुभ्यां प्रत्येकं सम्बन्धात्समुच्चयः।

अन्वाचयः –

कर्मद्वयेऽपि प्रत्येकं क्रियाद्वयेन सम्बन्धोऽन्वाचयः यदात्वेकस्यप्राधान्यात्तदनुरोधेन त्वितरदत्वाचीयते तदान्वाचयः। यथा **"बटो भिक्षामट गां चानय"**[२०] इति तथा बटो भिक्षामटेत्यादि अत्र भक्षिाटनं मुख्यं गवामानयनं तु प्रासंगिकम्। एकस्य बटो क्रमेणाटनक्रियया गवानयनक्रियया च सम्वन्धान्वाचयः।

इतरेतयोगः –

"इतरेतरयोगे द्विवचनम्"[२१] परद्वयेन द्वन्द्व इतरेतर योगः। परस्परसापेक्षयोरवयवप्राधान्येन-एकक्रियायामन्वयः इतरेतर योगः। अन्योन्यं सापेक्षद्वयोर्योगः एकक्रियाभिसम्वन्ध इतरेतरयोगः यथा धवश्च खदिरश्च धवखदिराविति। **"धवखदिरादौछिन्धि"**[२२] इति।

समाहारः –

बहूनां पदानां समवायः समाहारः एते यस्यार्थाः। **"परस्परसापेक्षाणामेवावयवभेदतिरोधानेन संहतिरूपेणान्वयः समाहारः"**[२३]। स एक तिरोहितावयवप्रधान्यः संहतिप्राधान्यः समाहार इति। **"ईश्वरं भजस्व गुरुं च भजस्व"**[२४] **"बटोभिक्षामटेत्यादि"**[२५] अत्र भक्षायाटनं मख्यं गवानयनं तु प्रासंगिकम्। अत्र ग्रन्थकारो लिखितिएकस्यवटोः क्रमेणादनक्रियायां गवानयनक्रियायां च सम्वन्धात् अन्वाचयः। **"इतरेतर एवंच समाहारद्वन्द्वे"**[२६] इति सुस्पष्टतयात्रवासुदेवभट्टेन लिखितम्। **"काशिकायां"** लिखाति समुच्चयान्वाचययोरसामर्थ्यान्नास्ति समासः। इतरेतरयोगे समाहारे च समासो विधीयते। अत्र **"काशिकायां"**[२७] प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च = प्लक्षन्यग्रोधौ। धवश्च खदिरश्च पलाशश्च = धवखदिरपलाशाः। बाक्च त्वकच = वाक्त्वचं इमानि निदर्शनानि प्रदत्तानि सन्ति। **"सारस्वतव्याकरणे"**[२८] ईश्वरं गुरुं च भजस्व, बटोभिक्षामट गां चानय विश्राणिते। **"लघुसिद्धान्तकौमकुद्यानुसारेण"**[२९] ईश्वरं गुरुं च भजस्व, भिक्षामट गां चानय, धावखदिरौ छिन्धि इमान्युदाहरणानि दत्तानि सन्ति। **"सिद्धान्तकौमुद्याम्"**[३०] ईश्वरं गुरुं च भजस्व, भिक्षामट गां चानय, धवखदिरौ इति निदर्शनानि सन्ति। **"प्रक्रियाकौमुद्यानुसारेण"**[३१] किमपि विशेषतयोदाहरणं नास्ति। **"शब्दकौस्मुभे"**[३२] तान्युदाहरणानि सन्ति यान्युदाहरणानि सर्वत्र व्याकरणग्रन्थे **"चार्थेद्वन्द्व"**[३३] सूत्रे भवन्ति। **"चम्पूरामायणे"**[३४] लिखितम् –

भरतस्तेषु कैकेय्यां तनयो विनयोज्वलः।
अन्यौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायां कृतोदयौ।।

अत्र लक्ष्मणश्च शत्रुघ्नश्च = लक्ष्मणशत्रुघ्नौ इत्यत्र द्वन्द्वसमासोदृश्यते। परमन्यत्र व्याकरणग्रन्थे माता च पिता च = पितरौ एवंच भ्रातरौ उदाहरणे प्रदत्ते स्तः। ग्रन्थकारो लिखिति केचित्तु[३५] द्वन्द्वोविभाषयैकवद्भवतीति इतरेतरयोगेऽप्येकवद्भाव इत्याहुः। वा शब्दोव्यस्थायां प्राणितूर्यसेनांगदीनां द्वन्द्वस्य नित्येमेकवद्भावः। वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तरादीनां वा। चूताशोकं चूताशोका इत्यादि। फलसेनावनस्यतिमृग शकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानां बहुप्रकृतिरेव एकवत्। बदराणि च आमलकानि च

बदरामलकम्। द्विप्रकृतौ तु बदरामलके स्तः। दधिपयादीनां च नैकवद्भावः इति।

कर्मधारयः समासः -

यत्र कर्मणः प्राधान्यं भवति तत्र कर्मधारयः समासः भवति। यथा **"कृष्णसर्पः"** **"नीलोत्पलम्"**[३६] इति। कृष्णर्पइत्यत्र सर्पस्य प्राधान्यं भवति नतु कृष्णस्य।

स च कर्मधारयः समासः सप्तविधो भवति तद्यथा-

(१) विशेषपूर्वपदः (२) विशेष्यपूर्वपदः (३) विशेषणोभयपदः (४) उपमानपूर्वपदः

(५) उपमानोत्तरपदः (६) सम्भावनापूर्वपदः (७) अवधारणपूर्वपदः

इति सप्तविधो भवति। एतेषामुदाहरणानि अधस्ताद्ददामि।

विशेषणपूर्वपदः - कृष्णसर्पः।
विशेष्यपूर्वपदः - वैयाकरणखसूचिः।
विशेषणोभयपदः - शीतोष्णम्।
उपमानपूर्वपदः - घनश्यामः।
उपमानोत्तरपदः - पुरुषव्याघ्रः।
सम्भावनापूर्वपदः - गुणबुद्धि।
अवधारणपूर्वपदः - विद्याधनम्।

द्विगुः समासः प्रायेण संख्यापूर्वको द्विगुः

"द्विगोः"[३७] द्विगुसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। समाहारेऽर्थे द्विगुः समासोभवति ततोऽकारान्ताङीप् प्रत्ययो भवति परं पात्रादिवर्जयित्वा ङीप् भवति। संख्यां यथा द्वित्रि - चतुरदिकं संख्यावाचि पदं पूर्व भवत तच्चसमाहारार्थवाचकमेकीकरणार्थसूचकं स द्विगुः समासः कथ्यते। वाच्यवाचकयोरभेदोपचारात्सङ्ख्या शब्देन यद्वाचकं पदमुपादीयते तद् द्विगुसंज्ञो भवत। यथा- त्रिलोकी-त्रयाणां लोकानां समाहारः इति विग्रहे समासनिष्पन्नात् त्रिलोकशब्दात् टापपवादो ङीप् **"यस्येतिच"**[३८] इति सूत्रेण इत्यलोपे विभक्ति कार्ये त्रिलोकी इति सिद्धं भवति। त्रिलोकी, त्रिफला उदाहरणे प्रदत्ते स्तः।

इमान्युदाहरणानि शब्दकौस्तुभे सन्ति तान्युदाहरणानि **"लघुसिद्धान्तकौमुद्यां"**[३९] सन्ति। प्रक्रियाकौमुद्यां पञ्चमूली, त्रिफला विश्राणिते। **"सिद्धान्ताकौमुद्यां"**[४०] किमपि विशिष्टमुदाहरणं नास्ति। **"काशिकायां"**[४१] पञ्चमली, दशमूली, त्रिफला इमान्युदाहरणनि सन्ति। रघुवंशे[४२] लिखितम्।

पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः।
अनपाढ़स्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव।।

अत्र पञ्चनां वटानां समाहारः पञ्चवटी। तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च इति तत्पुरुषः **"संख्यापूर्वो द्विगुः"** इति द्विगुसंज्ञायां द्विगोः इति ङीप् भूत्वा पञ्चाहं वटी सिद्धति। **"चम्पूरामायणे"**[४३] लिखितम्-

सुकेतुतनया न च सप्तसाली वाली न च त्रिभुवनप्रथितप्रभावः।
तारास्मि वज्रहृदया विशिरवैरभैद्या धन्वी कथं भवसि राघव मामविद्धवा।।

अत्र सप्तसाली एवंच त्रिभुवनं इति द्वन्द्वस्य उदाहरणे भवतः। सप्तानां सालानां समाहारः सप्तसाली एवंच त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम्। **"विवाह पद्धयत्याम्"**[४४] सप्तपदी इति लिखितमत्राऽपि

संख्यापूर्वको द्विगुः समासो भवति।

बहुव्रीहिसमासः –

प्रायेण अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः। बहुव्रीहिसमासे अन्यपदार्थस्य प्राधान्यं भवति। तद्यथा "नीलं कण्ठं यस्य सः नीलकण्ठ इति।"

"शेषे बहुव्रीहिः"[४५] अधिकारसूत्रोऽयं वर्तते। द्वितीयाविभक्तिमारभ्य सप्तमी विभक्तिपर्यन्तं षण्णां समासोविहितः। विशेषणं विशेष्येणेत्यादिना तु प्रथमायाऽपिसमासो भवति। सूत्रे शेषशब्दस्यामयमभिप्रायः **"उन्मत्तगंगमिति"**[४६]। बहु धनं यस्य स बहुधनः एवंच लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णः इत्युदाहरणे भवतः। "शब्दकौस्तुभे"[४७] कण्ठेकालः समुदाहतम्। **"वृहच्शब्देन्दुशेखरे"**[४८] चित्रगुः इत्युदाहरणमस्ति। **"काशिकाया"**[४९] चित्रगुः इति।

संदर्भ ग्रन्थानां सूचिः

१. पाण्डुलिपि सारस्वत चन्द्रिका, पृ° ७० तः उद्धृतः
२. सुबोध संस्कृत व्याकरण एवं रचना, पृ° २५४
३. सुगम संस्कृत व्याकरण, पृ° २३३
४. लघुसिद्धान्त कौमुदी, पृ° ३६७
५. सिद्धान्तकौमुदी द्वितीय भागः, पृ° ४७८
६. सारस्वतव्याकरणं पूर्वार्द्ध, पृ° २३६
७. प्रक्रियाकौमुदी पूर्वार्द्ध, पृ° ४६५
८. शब्दकास्तुभ द्वितीय भाग, पृ° १६१
९. पाण्डुलिपि सारस्वतचन्द्रिका, पृ° ७१
१०. अष्टध्यायी, २-१-५
११. सारस्वतव्याकरणं पूर्वार्द्धं, पृ° २४०
१२. पाणिनि सूत्रव्याख्या पूर्वार्द्धं, पृ° १५७
१५. भट्टिटकाव्यं ६ सर्ग, श्लो° १०६
१६. किरातार्जुनीयं, पृ° १८६
१७. अष्टाध्यायी, २-२-२६
१८. शब्द कौस्तुभ पूर्वार्द्धं, पृ° २१६
१९. प्रक्रियाकौमुदी पूर्वार्द्धं, पृ° ६२२
२०. सिद्धान्तकौमुदी द्वितीय भागः, पृ° ६०४
२१. पाण्डुलिपि सारस्वतचन्द्रिका, पृ° ७१
२२. लघु सिद्धान्त कौमुदी, पृ° ४२०
२३. सारस्वतव्याकरणं पूर्वार्द्धं, पृ° २४७
२४. पाण्डुलिपि सारस्वतचन्द्रिका, पृ° ६४
२७. काशिकावृत्तिः – प्रथमो भागः, पृ° ११४
२८. सारस्वत व्याकरणं पूर्वार्द्धं, पृ° २४७
२९. लघु सिद्धान्त कौमुदी, पृ° ४२०
३०. सिद्धान्त कौमुदी, द्वितीयो भागः, पृ° ६०४
३१. प्रक्रिया कौमुदी पूर्वार्द्ध, पृ° ६२२
३२. शब्द कौस्तुभ द्वितीयो भागः, पृ° २१६
३३. अष्टाध्यायी, २-२-२६
३४. सम्पूरामायणं, पृ° ३१

३५. पाण्डुलिवि सारस्वतचन्द्रिका, पृ° ७१
३६. सारस्वतव्याकरणं पूर्वार्द्धं, पृ° २६२
(क) अष्टाध्यायी, ४-१-२१
३७. अष्टाध्यायी, प° ६-४-१४८
३८. लघु सिद्धान्त कौमुदी, पृ° ४७४
३९. प्रक्रियाकौमुदी पूर्वार्द्धं, पृ° ३४२
४०. सिद्धान्त कौमुर्दी, प्रथमो भाग', पृ° २०५
४१. काशिका प्रथमो भागः, पृ° २८७
४२. रघुवंश महाकाव्यं-१२ सर्ग, श्लो° ३१
४३. सम्पूरामायणं, पृ° २२५
४४. विवाह पद्धयति, प° १२८
४५. अष्टाध्यायी, २-२-२३
४६. शब्दकौस्तुभ, द्वितीयो भागः, पृ° २११
४७. सारस्वत व्याकरणं पूर्वार्द्धं, पृ° २५४
४८. शब्दकौस्तुभं, द्वितीयो भागः, पृ° २११
४९. वृहत् शब्देन्दुशेखरः, द्वितीयो भागः, पृ° १०८४
५०. काशिका प्रथमो भागः, पृ° ११२

ज्योतिषं महाकाव्यञ्च

प्रो. पुरुषोतम शर्मा,
जम्मूः

वेदस्य हि षट्स्वङ्गेषु ज्योतिषमन्यतममिति तु भवन्तः सुसम्यक् प्रकारेण जानन्त्येव। ज्योतिषं तु वेदपुरुषस्य चक्षुरूपेण स्मर्यते —

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[१]

भास्कराचार्यैरपि यथोक्तम् —

वेद चक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।
संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिः चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः।।

ततो सर्वेषु वेदाङ्गेषु प्राधान्येन अधिकृतस्य यज्ज्योतिषं तस्य हि लगधमुनेर्वेदाङ्गज्योतिषम्प्रधानो ग्रन्थः वसिष्ठकाश्यपपराशरगर्गनारदादिप्रोक्ता मौलिकाः संहिताग्रन्थाश्च। वेदाङ्गज्योतिषस्य हि चत्वारो भेदाः ऋग्ज्योतिषं यजुर्ज्योतिषं सामज्योतिषमथर्वज्योतिषञ्चेति। एतेषां ग्रन्थानामुपदेष्टा लगधो नाम मुनिरुच्यते। अतः संस्कृतसाहित्यान्तरस्येव ज्योतिर्विज्ञानस्योत्पत्तिरपि ब्रह्मण एवाभूदिति सर्वथा विश्वस्यते। ब्रह्मा हि पितामहोऽस्य जगतः चतुर्भ्यो मुखेभ्यश्चतुर् एव वेदान् यज्ञसाधननिमित्तं प्राबोचत्। यथा —

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद सवेद यज्ञम्।।[२] तथा च
वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।।[२] तथा च
प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्। कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनाम्।।[३]

तेन हि वेदानां यज्ञात्मकत्वम्। ते च यज्ञाः कालाश्रयेणैव सिद्ध्यन्ति इति तत्सिद्ध्यर्थं ब्रह्मा कालावबोधकं ज्योतिर्विज्ञानं विनिर्माय नारदाय प्रोवाच। नारदश्च अस्य शास्त्रस्य महत्त्वं स्वीकृत्य लोके प्रवर्तयामास। अन्यमतानुसारेणेदं ज्यौतिषशास्त्रं प्रथमं तावत् सूर्येण मयासुराय प्रोक्तम्। तदनन्तरं च जगति प्रवर्तितमिति। कश्यपसंहितानुसारेण अष्टादश आचार्याः ज्योतिः शास्त्रप्रवर्तका सन्ति। यथा—

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः। कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः।।

रोमशः पौलिशश्चैवच्यवनो यवनो भृगुः। शौनकोऽष्टादशाश्चैते ज्योतिः शास्त्र प्रवर्तकाः।[४]

महर्षिपराशरस्तु तानित्थमाह —

विश्वसृङ् नारदो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः। लोमशो यवनः सूर्यश्च्यवनः कश्यपो भृगुः।।

पुलस्त्यो मनुराचार्यः पौलिशः शौनकोऽङ्गिराः। गर्गो मरीचिरित्येते ज्ञेया ज्योतिः शास्त्र प्रवर्तकाः।।

यथाऽऽह ज्योतिशास्त्रस्योत्पत्तिः विषये गर्गाचार्यः —

स्वयं स्वयम्भुवा सृष्टं चक्षुर्भूतं द्विजन्मनाम्, वेदाङ्ग ज्योतिषं

ब्रह्मपरं यज्ञहितावहम्। मया स्वयम्भुवः प्राप्तं क्रियाकालप्रसाधनम्।।

अनेन ज्ञायते यच्छास्त्रमिदं यज्ञप्रवर्तनाय सर्वप्रथमं ब्रह्मणा सृष्टम्। तच्च शिष्यपरम्परया बुधैर्गृहीतम्। तदेव आर्यभटेन विवेचितं वराहमिहिरप्रभृतिभिः प्रकाशितम्। तस्मात्कारणादेव वराहमिहिरः[४] कथयति। यथा —

प्रथमं मुनिकथितमवितथमवलोक्य ग्रन्थविस्तरस्यार्थम्।

नातिलघुविपुलरचनाभिरुद्यतः स्पष्टमभिधातुम्।।

शास्त्रमिदं सिद्धान्त-संहिता होराभेदन त्रिषु स्कन्धेषु विभक्तमिति त्रिस्कन्धज्योतिषशब्देनापि ज्ञायते। तथैव तत्र कैरलिः शकुनश्चेति दौ भेदौ संयोज्येदं पञ्चस्कन्धमप्युच्यते। अस्मिन्कालविधानशास्त्रविषये यथाऽऽह वराहमिहिरः —

ज्योतिः शास्त्रमनेकभेद विषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितं तत्कात्स्न्योपनयस्य नाम मुनिभिः सङ्कीर्त्यते संहिता।

स्कन्धेऽस्मिन् गणितेन या ग्रहगतिस्तान्त्राभिधानस्त्वसौ होराऽन्योऽङ्गविनिमयश्च कथितः स्कन्धस्तृतीयोऽपरः।।[५]

इत्थं ज्योतिषशास्त्रस्य त्रयः एव मुख्यविभागाः — (१) तन्त्रम्, (२) संहिता, (३) होरा च। तन्त्रं सिद्धान्तस्यापरपर्यायम्। गणितशब्देनाप्यभिधीयते इदम्। इदं हि ग्रहगतिसम्बद्धम्। तन्त्रस्य विवेचनीयविषयाः यथा मध्यगतिः तिथिनक्षत्रच्छेदः स्फुटगति त्रिप्रश्नः चन्द्रसूर्यग्रहणे उदयास्तमयौ शृङ्गोन्नतिः समागमः ताराग्रहसंयोगश्च। ग्रहाणां गतौ वक्रत्वमनुवक्रत्वञ्च विवेच्यते। यथा —

त्रुटयादिप्रलयान्तकालगणना मानप्रभेदः क्रमाच्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।

भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितैश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः।।

अस्य ज्योतिर्विज्ञानस्य पृथक् शास्त्रत्वेनाविर्भावोऽपिशास्त्रान्तर समकालिक एव। वैदिक संहितासु तत्र तत्रोपवर्णितं ज्योतिर्विज्ञानविषयमादाय लगधनाम्ना मुनिना निर्मितो वेदाङ्गज्योतिषाख्यो ग्रन्थ एव विषयेऽस्मिन् प्रथम एव। ग्रन्थकर्तृषु विज्ञानेऽस्मिन् लगधात्परं आर्यभट्टः-लल्ल-ब्रह्मगुप्त-श्रीपति-भास्कराचार्य मुनीश्वर-ज्ञानराज-कमलाकरभट्टाः-श्रीधरवटेश्वर-मुञ्जालादयश्च प्राधान्येन स्मर्यन्ते। तत्रज्योतिर्विज्ञानस्य सर्वप्रथम ऐतिहासिक आचार्य आर्यभट्टो बभूव। स त्रयोविंशतिवर्षीय एव 'आर्यभटीयम्' प्रणीतवान्। स तु सर्वेषां पौरस्त्य-पाश्चात्य विदुषां ज्योतिर्विज्ञानपद्धतिं पर्यालोच्य स्वप्रतिभाबलेन समुन्नतं शास्त्रं विरचितवान्। आर्यभटेन संख्यानां वर्गमूलघनमूलादिज्ञानाय दशमिकसङ्केतविधिः प्रयुक्तः। आर्यभट्टः सर्वप्रथममस्योल्लेखं करोति — **एकं दशं च शतं च सहस्रमयुते तथा प्रयुक्तम्।**

कोट्यर्वुदं च वृन्दं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्यात्।।

ख्रीष्टस्य द्वादशशतके भास्कराचार्यः पृथिव्या गोलत्वमाकर्षणशक्तिं च प्रमाणयन् लिखति यथा—

समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्।
नरस्य तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा।।
आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्यः।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।

तदेव पृथिव्या आकर्षणं न्यूटनमहोदयेन षट्शताब्द्यां पश्चात् विज्ञातम्। यतो हि द्वादशशतके भास्कराचार्यो गणितशास्त्रस्य महत्त्वपूर्णाकिरग्रन्थसिद्धान्तशिरोमणिं प्रणीतवान्।

संहिताऽस्य द्वितीयस्कन्धः। वस्तुतस्तु सर्वेषामेव स्कन्धानां संक्षेपेण विवेचनात् हि संहितायाः संहितात्वम्। तस्मात्कारणादेव "संहितापारगो दैवचिन्तको भवतीति" निगदितं वर्तते। अत्र हि सांवत्सरसूत्रं, ग्रहयुतिः, ग्रहचारः, वर्षफलं, गर्भविवेकः, उल्काविवेकः, शृङ्गाटकं प्रतिवर्षकृत्यं लक्षणानि वास्तु, शकुनविचारः, वृक्षायुर्वेदः तिथ्यादिफलं ग्रहगोचरश्चैवमाद्या साङ्गोपाङ्गप्रतिपाद्यविषयाः। होरास्कन्धो हि जातकसम्बद्धः। अत्र राशिप्रभेदः, ग्रह योनिः, आधानं अश्विन्यादिनक्षत्रविवेकः, सम्बत्सरादिफलं, मासफलं, ग्रहस्थितिफलं, आयुर्दाय, अरिष्टविचारः, अरिष्टभङ्गविचारः, ग्रहदृष्टिफलं राजयोगादि च होरास्कन्धे विवेच्यन्ते। स्कन्धोऽयं जातक–प्रश्न–मुहूर्त्तनिमित्तेति चतुरङ्गैरूपबृंहितः। अतः सर्वेषु ग्रन्थेषु प्राधान्येन अधिकृतस्य ज्योतिषशास्त्रस्य प्रथमं तावत् स्वरूपं निरूप्यते मया। द्योत्यन्ते प्रकाश्यन्ते वेदोपहिता निखिलभावा अनेनेति द्योतनं, ज्योतनं वा ज्योतिः। "ज्योतिषां ग्रहनक्षत्राणां गतिमधिकृत्य कृतं शास्त्रम्" अथवा "ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्"। अतः यानि हि तेजोमयानि बिम्बानिअपरिमिते आकाशमण्डले दरीदृश्यन्ते, तानि सर्वाणि एव समष्टया ज्योतिः शब्देनोच्यन्ते। तेष्वपि यानि हि सदैकरुपगतीनि तानि नक्षत्रशब्देन ज्ञायन्ते। प्रतिदिनं भिन्न भिन्न गतीनि तु ग्रहशब्देन तेष्वपि पुनः केचिदमृतमयरश्मयः, केचिद्विषमयरश्मयः केचिदुभयमिश्ररश्मयः, केचित्तूभयधर्महीनरश्मयश्च कथिताः विद्वद्भिः। एवं विधनक्षत्रग्रह तारकादिज्योतिः पिण्डानां स्थितिगतिप्रभावादिवर्णनपरं शास्त्रमेव ज्योतिर्विज्ञानपदेनाभिधीयते। यथोक्तं लगधमुनिनाऽपि —

यथाशिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्।।[६]

ज्योतिर्विज्ञानमपि शास्त्रान्तरवत्कतिपया दशा अतिक्रम्य साम्प्रतिकां अवस्थां प्राप्तं दरीदृश्यते। मानवजिज्ञासा हि मानवस्य मौलिकप्रवृत्तिष्वन्यतमा अस्ति। आदिममानवेन आकाशस्य प्रयोगशालायां जिज्ञासया ग्रह–नक्षत्र–राशि ताराणाञ्च निजकुशलचर्मचक्षुषा पर्यवेक्षणं कृतम् तथा ज्योतिषसम्बन्धिः रहस्योद्घाटनं कृतम्। यतो हि ग्रहनक्षत्रराशितारा विषयकजिज्ञासैव ज्योतिषशास्त्रस्याविर्भावे कारणम्। यथा मानवः पातुमिच्छति, भोक्तुमिच्छति, रन्तुमिच्छति, आत्मानं प्रकटयितुमिच्छति तथैव स निजं परञ्च ज्ञातुमिच्छति। पशुवदपि मानवोऽनादिकालादेव रात्रिदिवसादिविषये स्वल्पमपि जानाति स्म। स सूर्य चन्द्रमसौ नक्षत्राणि, तारा, ग्रहान् अवलोक्य निश्चितरूपेण तेषां वैशिष्ट्यं नैव जानाति स्म। तथापि तदवस्थितिमवलोक्य यतिकञ्चिदपि चिन्तनं मननं च अवश्यमेव करोति स्म। तदेव मननं चिन्तनं अनुभवोपचितं वैदिकसंहितासु वैदिकग्रन्थेषु च प्रस्फुटितं अवलोक्यते तदनन्तरं नवनव नु भवसंयोजनपूर्वकं लौकिकग्रन्थेष्वपि दृश्यते।

इदानीं प्रश्नैष नो दृष्टिपथमायाति यत् बहवो ज्योतिषसम्बद्धप्रसङ्गाः रामायणे महाभारतादौ अपि स्मृता उपलभ्यन्ते। महर्षिबाल्मीकिरामायणे तु ज्योतिषस्य अतिसूक्ष्मरूपं मुहूर्त्तादिकमपि अधिकृत्य प्रासङ्गिकं वर्णनं दरीदृश्यते। महाभारतं तु भारतीय परम्परायाः अगाधसागराः साक्षात् विश्वकोष एव। यतो हि "यदिहाऽस्ति

तदन्यत्र, यन्नेहाऽस्ति न कुत्रचिदिति" इति वचनस्य निदर्शनं तु महाभारतमेव भवितुमर्हति। अतः महाभारते ज्योतिषविषयोऽपि बहूत्र प्रस्तुतो दृश्यते। विद्वांसः महाभारतस्य त्रीणि स्वरूपाणि अनुमीयन्ते। प्रथमं तावत् जयो नामेतिहासः, द्वितीयं तु भारतं नामाख्यानम्, तृतीयं लक्षश्लोकात्मकं महाभारतम्। अस्य ग्रन्थस्य वाचनान्यपि तावन्त्येव सन्ति प्रथमं व्यासेन वैशम्पायनाय श्रावितम्, द्वितीयं वैशम्पायनेन जनमेजयाय पाठितम्, तृतीयं तु सौतिना शौनकादिभ्यः कथितम्। महाभारते सप्तवाराणां नामानि तु न अवलोक्यन्ते परं वारशब्दः बहुत्र पर्यायार्थे प्रयुक्तो दरीदृश्यते। यथा—

एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्य सुकरौ नरैः।।[७]

नक्षत्रगणनाक्रमविषये महाभारते बहुनिगदितं वर्तते यथा —

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्याः कन्यसी स्वसा। इच्छन्तीं ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं ययौ।।
तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रगगनाच्युतम्। कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तये।।
घनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः। रोहिणी ह्यमवत्पूर्वमेवं सङ्ख्या समाऽभवत्।।
एवमुक्ते तु शक्रेण कृत्तिका त्रिदिवं गता। नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदेवतम्।।[८]

आदौ हि अभिजितनक्षत्रमधिकृत्य नक्षत्रसङ्ख्या सप्तविंशतिरासीत्। कालक्रमेण अभिजित् निस्तेजाः समपद्यत। ततो नक्षत्रसङ्ख्या परिपूरणाय कृत्तिका गृहीता। पूर्वं तावत् नक्षत्रगणनां रोहिणीक्रमेण आसीत्। तत्पश्चात् घनिष्ठाक्रमेणेति। यथा नीलकण्ठेन व्याख्यातम् — 'यस्य नक्षत्रस्या द्यक्षणे चन्द्रसूर्यगुरुणां योगस्तद्युगादिनक्षत्रम्। अस्मिन् विषये शङ्करबालकृष्णो यथा — 'अभिजिन्नक्षत्रस्य शराः ६१ अंशाः उत्तरतः। सम्पातगतिजनितनक्षत्रमण्डलभ्रमणे कदाचिदभिजिद् ध्रुवस्थानमायाति। तदा वृत्ते षड्विंशतिरेव नक्षत्राणि अवशिष्यन्ते इयं घटना त्रयोदशसहस्त्रवर्षं पूर्वं घटिता सम्भवति यतो हि पश्चात्यगणका अपि तथा मन्यन्ते। अश्वमेघपर्वणि यथा—

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः।।[९]

आदिपर्वणि यथा —

चकारान्यच्च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा। प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः।।[१०]

महाभारते कृत्तिकारम्भाणि नक्षत्राणि सन्ति। अधुना नक्षत्रसम्बन्धे महाभारतगतानि कानिचिद्वचनानि उद्ध्रियन्ते यथा —

"विशाखयोर्मध्यगतः शशी यथा।"[११] **"चन्द्रस्येव पुनर्वसू।"**[१२]
"अन्वधावन्मृगं रामोरुद्रस्तारामृगं यथा।"[१३] **"पञ्चतारेण संयुक्तः सवित्रेण चन्द्रमाः।"**[१४]

एवमेव महाभारते सप्तर्ष्यरुन्धत्यगस्त्यादितारका अपि स्मृताः। योगकरणादीनां च न तत्रोल्लेखः वर्तते। महाभारते ऋत्वयनमासतिथ्यादीनामनेकत्रोल्लेखो विद्यते। यथा—

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे। स्फीतसस्यमुखे काले कल्पः सत्यवतां वरः।।[१५]

कार्तिके मासे रेवत्यां शुक्लपक्षद्वादश्यां शरदः समाप्तिर्हेमन्तस्यारम्भ इति। एतेन महाभारतसमये वसन्तो हि चैत्र वैशाखयोरेवेति सिध्यति।

"कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ।"[१६] **"मासाः शुक्लादयः स्मृताः।"**[१७] एवमेव
संवत्सरान् ऋतुन् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणात्।[१८]
काष्ठाः कला मुहूर्त्ताश्च दिवा रात्रिस्तथालवाः।[१९]

महाभारते अभिजितादि मुहूर्त्तानामपि अनेकत्रोल्लेखो दृश्यते। यथा —

"ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्त्तेऽभिजिदष्टमे।"[२०] "सभवान् पुण्ययोगेन मुहूर्तेन जवेन च।"[२१]

सूर्यचन्द्रादिग्रहणमधिकृत्य महाभारते अनेके प्रसङ्गाः सन्ति। यथा —

अलक्ष्यः प्रभयाहीनः पौर्णमासीञ्च कार्तिकीम्।

चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले।।[२२]

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते।[२३] महाभारतयुद्धवर्षे मार्गशीर्षकृष्णामावस्यां तिथौ सूर्यग्रहणं घटितं तथा च कार्तिकपौर्णमास्यां चन्द्रग्रहणं घटितं तथा च मार्गशीर्षकृष्णपक्षश्च त्रयोदशदिनात्मक एव। यथा प्रतिपादितं भीष्मपर्वणि—

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम्। इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम्।

चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तौ एकमासो त्रयोदशीम्।[२४]

महाभारते सूर्यचन्द्रादि नवैव ग्रहास्तत्र तत्र स्मृताः अवलोक्यन्ते। यथा —

सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च।

इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः।[२५]

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ।[२६] प्रतिलोमोऽभवद्गुरुः।[२७] नक्षत्रमभितो व्योम्नि शुक्राङ्गिरसयोरिव।।[२८]

विमार्गस्थौ ग्रहाविव।[२९] सोमं सप्तग्रहा इव।[३०]

निःसरन्तो व्यदृश्यन्त सूर्यात्सप्त महाग्रहाः।[३१] ग्रहाः पञ्च रविं यथा।[३२]

महाभारतसमये ग्रहगतिज्ञानमपि अतिसमृद्धमासीत्। यथोक्तं शान्तिपर्वणि —

अथ संवत्सराणाञ्च मासानाञ्च क्षयं तथा।

पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानाञ्च सङ्क्षयम्।[३३]

आचार्य लोकमणिदाहालो निर्दिशति यत्संवत्सरक्षयो हि प्रायः पञ्चाशीतिः वर्षानन्तरं घटते। महाभारते हि मेषवृषमिथुनादिद्वादशराशीनां विधिः क्रान्तिवृत्तस्य द्वादशविभागेन ग्रहस्थितिनिर्धारणपद्धतिर्वा नैव दृश्यते। सम्भवतः तदा द्वादशसंवत्सरपद्धतिः प्रचलिताऽनुमीयते। सा च गुरोरुदयास्तमययोख लम्बिता। तत्र हि पौनः पुण्येन संवत्सरक्षयावसरं आपतति। क्षयमासो स्पष्टगतेः सूक्ष्मज्ञानं विना नैव ज्ञातुं शक्यते। तेन हि तदा गुरोः सूक्ष्ममध्यमगतेर्ज्ञानमवश्यमेवाऽऽसीत्। महाभारते सामुद्रस्योत्तरङ्गस्य चन्द्रमसा सह सम्बन्धः पृथ्व्याः गोलत्वं चन्द्रमसः पृष्ठस्यादृश्यत्वञ्चोक्तम्।[३४]

महाभारते धूमकेतोरुल्कापातादेश्चोल्लेखो यत्र तत्र दृश्यते। वर्षायाः कारणं सूर्य एव इत्यपि तदा ज्ञातमासीत्। यथोक्तं वनपर्वणि —

त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम्।

सर्वौषधिरसानाञ्च पुनर्वषासु मुञ्चसि।।[३५]

ज्योतिषस्य सिद्धान्तस्कन्धापेक्षया संहितास्कन्धस्य ज्ञानं अतिसमृद्धतरं दरीदृश्यते महाभारते। अत्र कानिचित् तत्सम्बद्धानि वचनान्युद्धियन्ते। यथा —

अद्यः पौष्ययोगमुपैति चन्द्रमाः। पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाद्यपूर्वम्।।[३६]

यतो वायुर्यतः सूर्यो यतो शुक्रस्ततो जयः।।[३७]

तस्मिन्काले संवत्सरादि ज्ञानमपि समृद्धमासीत्। यथा —

अनुसम्वत्सरं जाताः पाण्डवाः कुरुसत्तमाः। पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव।।[३८]

महाभारतसमये कालगणना अपि सुसम्यक् प्रकारेण ज्ञातमासीत्। यथा —

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषाञ्चव्यतिक्रमात्। पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः।।
एषामप्यधिकाः मासाः पञ्च च द्वादशक्षपाः। त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः।।[३९]

वेदाङ्गज्योतिषानुसारेण द्वयोरधिमासयोरवस्थितिर्हि पञ्चसु वर्षेषु सिध्यति। नक्षत्रगणना कृत्तिकानक्षत्रात् एव तत्र मता। महाभारतेऽपि नक्षत्रगणना कृत्तिकानक्षत्रादारभ्य भरणीं यावत् कृताऽस्ति तथा च तत्तन्नक्षत्रविशेषेषु दानविशेषनिर्देशश्च कृताऽस्ति।[४०] युधिष्ठिर जन्मसमये ग्रहयोगो यथा —

भृगुपुत्रधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ।

महाभारते युधिष्ठिर जन्ममुहूर्त्त यथा —

ऐन्द्रे चन्द्रसमारोहे मुहूर्त्तेऽभिजिदष्टमे।
दिवो मध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेतिपूजिते।।[४२]

युधिष्ठिरजन्मकुण्डल्यां ग्रहाणां शुभाशुभफलं सौम्यपापग्रहक्रूरत्वं ग्रहाणां वक्रत्वं उल्कापातत्वं च। यथा—

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः। शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम्।।
कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन। अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं सङ्गमयन्निव।।
नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम्। विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः।।
सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च। दिवसोल्काः पतन्त्येताः सनिर्वाताः सकम्पना।।[४३]

नक्षत्रवर्णनं तथा च चन्द्रस्वरूपं यथा महाभारते —

मार्गशीर्षस्य मासस्य चन्द्रे मूलेन संयुते। पादौमूलेन राजेन्द्र जङ्घायामथ रोहिणीम्।।
अश्विभ्यां सक्थिनी चैव ऊरु चाषाढयोस्तथा। गुह्यं तु फाल्गुनी विद्यात्कृत्तिका कटिकास्तथा।।
नाभिर्भाद्रपदे विद्याद् रेवत्यामक्षिमण्डलम्। पृष्ठमेव धनिष्टासु अनुराधोत्तरास्तथा।।
बाहुभ्यां तु विशाखासु हस्तौ हस्तेन निर्दिशेत्। पुनर्वस्वङ्गुलौ राजन् आश्लेषास्तु नखास्तथा।।
ग्रीवाज्येष्ठा च राजेन्द्र श्रवणेन तु कर्णयोः। मुखं पुष्येण दानेन दन्तोष्ठौ स्वातिरुच्यते।।
हासं शतभिषाञ्चैव मघाञ्चैवाथ नासिकाम्। नेत्रे मृगशिरो विद्याल्ललाटे मित्रमेव तु।।
भरण्यां तु शिरो विद्यात्केशानार्द्रा नराधिप। जायते परिपूर्णाङ्गः पौर्णमास्येव चन्द्रमाः।।

महाभारते अनुशासनपर्वणि भाद्रपद्मार्गशीर्षादिद्वादशमासानां नामानि गृहीतानि सन्ति।[४४]
महाभारते त्रयोदशदिनात्मकपक्षो यथा —

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम्। इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम्।।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम्।

महाभारतस्य तृतीयाऽध्याये महाभारतयुद्धकालीनग्रहनक्षत्रस्थितिर्यथा —

श्वेतो ग्रहः तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति। धूमकेतुर्महावीर पुष्यञ्चाक्रम्य तिष्ठति।।
मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः। भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीडयते।।
शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विराजते। रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः पुरुषग्रहः। वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः। विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ।।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकाह्ना हि त्रयोदशीम्।।[४५] प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम्।। कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं सङ्गमयन्निव।।[४६]

मार्गशुक्लपक्षप्रतिपदायां तिथौ महाभारतयुद्धं प्रारब्धं पौषकृष्णतृतीयायां तिथौ समाप्तम्। "अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः"। भीष्मपितामहः विषये कथितं वर्तते यत् भीष्मपितामहः मार्गशुक्लदशम्यां तिथौ अर्जुनेन पातितोऽपि अष्टपञ्चाशद्दिनानि असून् धारयित्वा माघशुक्लपक्षाष्टम्यां निर्वाणमाप। यथा –

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति।[३०]

एवं वयं अस्य महाभारतस्य विषये एतद् कथयितुं पारयामः यत् अस्मिन् ज्योतिषसम्बन्धिविषयः सारत्वेन यत्र तत्र प्रपञ्चितः सन्ति। अत्र सामान्यतः नक्षत्राणां कृत्तिकादितो गणना, ग्रहगतिज्ञानम्, धूमकेतोरुल्कापातादेश्चोल्लेखो, पृथ्व्याः गोलत्वम्, संवत्सरादिज्ञानम्, द्वादशमासानां नामानि, सूर्यचन्द्रादिग्रहणम् तथा च मुहूर्त्तमधिकृत्य अनेके प्रसङ्गाः सन्ति।

संदर्भ ग्रन्थ सूचि

१. वेदाङ्गज्योतिष श्लोक ३
२. सिद्धान्त शिरोमणि
३. आर्चज्योतिष, श्लोक २
४. कश्यपसंहिता, पृ॰ १३
५. वराहमिहिर
६. वेदाङ्गज्योतिष॰ ४
७. महा॰ १६०/७
८. महा॰ वनपर्व ७-११
९. महा॰ अश्वमेधपर्व ४४/२
१०. महा॰ आदि पर्व ७१/३४
११. महा॰ कर्ण॰ २१/४८
१२. कर्ण॰ ४९/२८
१३. वन॰ २७८/२०
१४. आदि॰ १३५/३०
१५. महा॰ उद्योग॰ ४३/७
१६. महा॰ वन ८४/९६
१७. महा॰ अश्व॰ ४४/२
१८. महा॰ शान्ति॰ १४/१६
१९. शान्ति॰ ७/२१
२०. महा॰ आदि १२३/६
२१. उद्योग ६/७
२२. भीष्म॰ २/२३
२३. सभा॰ ७९/१९
२४. भीष्म॰ ३/३१-३२
२५. महा॰ वन॰ ३/१७
२६. शल्य॰ ११/१८
२७. शान्ति॰ ११/१५
२८. कर्ण॰ १८/१
२९. कर्ण॰ १८/२२
३०. द्रोण॰ ३७/२२

३१. कर्ण॰ ३७/४
३२. भीष्म॰ १००/३७
३३. शान्तिपर्व ३०१/४६-४७
३४. यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा....।
३५. वन॰ ४९/३
३६. आदि॰ १९८/५
३७. शा॰ १००/२०
३८. आदिपर्व १३४/२४
३९. विरा॰ ५२/३-४
४०. अनुशा॰ ६४/२०-३०
४१. शल्य ११/१८
४२. आदिपर्व॰ १२३/६
४३. उद्योगपर्व १४३/८-११
४४. अनुशा॰ १०६/१७-३१, अनुशासन॰ १०७/३-१४
४५. भीष्म॰ अं॰ ३
४६. उद्योग॰ अं॰ १४३
४७. अनुशा॰ १६७/२८

अक्षर अनुसंधान

गिरीश कुमार चौबे गोवर्द्धन
उज्जैन (म.प्र)

देववाणी संस्कृत भाषा का (वर्तमान में प्रचलित) अपरा विद्या पर आधारित हमारा समस्त अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन और ज्ञानोपदेश कार्य उपरोक्त आलेख द्वय में प्रकट हुई विषय वस्तु के आलोक में अधूरा होना प्रकट हो रहा है। **'वैदिक ऋचा ज्ञान'** को प्राप्त करने में सहायक तथा **'परा विद्या'** को प्रकट करने वाली संस्कृत सूत्र शब्दावली जिसका बोध अन्तःस्थ प्रभु के प्रसाद स्वरूप स्वयं ही जानने की मिला है, इन आलेख-द्वय में अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई है। आन्तरिक बोध पर आधारित यह संस्कृत-सूत्र-शब्दावली देववाणी संस्कृत के शब्द संयोजन तथा अपरा और परार विद्या आधारित भाषा-ज्ञान को उभयरूप पूर्णता प्रदान करनेवाली है।

उपनिषद्वाणी में भगवती श्रुति द्वारा 'मानव वाक्' (वाणी) को ही उस परमात्मा का वाक् होना कथन किया गया है- **'वागेवास्य वाक्'** (बृह० उप० १-१-१) अतः **'परोज्ञक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः**। (बृह० उप० ४-२-२) की आधारभूमि पर वैदिक एवं उपनिषद् वाङ्मय में देवी श्रुति द्वारा एवं अन्य प्राचीन आर्षग्रन्थों में सब ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा प्रयुक्त - **'एकः, एका, एकम्, दश, शत** एवं **सहस्र** शब्द और छः सूत्र (कूट) शब्दों पर आधारित यह संस्कृत-सूत्र-शब्दावली अपने गूढार्थ के द्वारा वेदवाणी के ऋचा संदेश तथा ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा अभिव्यक्त आर्ष ज्ञान को जानने में सहायक होना जानी गयी है। जनश्रुति महर्षि वेदव्यास द्वारा एक ही वेदज्ञान को चार भाग में विभाजित किया जाकर, प्रकट करना कथन करती है। चूंकि चारों ही **'वेद ग्रन्थ'** एकाधिक ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा अभिव्यक्त ऋचा-सूक्त का संग्रह हैं। अतः यह 'संस्कृत-सुत्र-शब्दावली' अपने गूढार्थ रूप में एक ही वेदज्ञान- **'पुरुष एवेदँ सर्वम्'** को सविस्तार, चतुषपाद रूप में जानलेना सम्भव बनाती है। यह **'पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः'**

आधार पर स्थूल नेत्रदृष्टि के अभाव में ज्ञानचक्षु के द्वारा उस 'विराट् पुरुष' को देख लेना और कर्णध्वनि के अभाव में वैदिक ऋचा-संदेश को सुन अथवा जानलेना संभव बनाती है। अतः यह महर्षि वेदव्यास के कथन- **'वेदप्रणिहितो हि धर्मः'** को उजागर करती हुई जान पड़ी है।

संस्कृत-सूत्र-शब्दावली देववाणी संस्कृत के भाषा-विज्ञान को प्रकट करती हुई प्राचीन आर्षग्रन्थों के प्रतिपाद्य को जान लेने में सहायक होकर, 'वैदिक ऋचाज्ञान' के अग्निदुर्ग में प्रवेश हेतु एक अतिशीतल 'प्रवेश द्वार' उपलब्ध कराने वाली प्रकट हो रही है। इन सूत्र (कूट) शब्दों का यह गुढार्थ ही वैदिक ऋचा सन्देश **'य इत् तद्विदुस्त इमें समासते'** की आधार भूमि को प्रकट करता है। और यह गूढार्थ ही उस विराट् पुरुष को प्रकट् करता हुआ **'कालः कलयतामहम्'** रूपमें अभिधेयार्थ पर आधारित समस्त कालगणनाओं का अन्त करनेवाला हो जाता है। अतः अन्तःस्थ पुरुष की इस महत् कृपा देववाणी संस्कृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन, पाठ-पाठन, आख्यान-व्याख्यान और पराविद्या के उपदेश कार्य हेतु शिक्षा सामाग्री रूप में अपयोग किया जाना तथा प्राचीन वैदिक वाङ्मय एवं अन्य आर्षग्रन्थ आधारित समस्त शोधकार्य हेतु इसे आधारभूत रूप मे अपना लिया जाना क्या वर्तमान युगानुकूल अवस्था में 'चरैवेति-चरैवेति' आधार पर प्रांसगिक है?

एक ही वेद-ज्ञान को चार भाग मे विभाजित करने के उपरान्त वेदवाणी में आये श्रुति कथन की व्याख्या करने हेतु महर्षि वेदव्यास द्वारा लिखे जा रहे ग्रन्थ में कूट शलोकों का अभिधा आधारित शाब्दिक अर्थ लौकिक आचरण को प्रकट करता हुआ लोकरंजन का कारण उपस्थित करता है तथा इनका गूढार्थ ही श्रुति कथन ही व्याख्या करनेवाला होता है। इतिहास कथारूप में यह ग्रन्थ इस संसार वृक्ष के अविनाशी, सनातन स्वरूप का परिचय प्रदान करता है। इसके अविनाशी बने रहने का कारण अपस्थित करता है; वहीं गूढार्थ रूप में यह **'पुरुष एवेदं सर्वं'** अर्थात् यह सब कुछ एक परम पुरुष परमात्मा है। इस श्रुति कथन का बोध प्रदान करनेवाला हो जाता है। इन कूट श्लोकों का शाब्दिक अर्थ अपरा विद्या की विषय सामग्री होता है तथा गूढार्थ ही परा विद्या को प्रकट करनेवाला होता है। अतः भगवती श्रुति का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी लौकिक जीवनयात्रा को पूर्ण करने तथा मृत्यु उपरान्त मोक्ष रूप में सद्गति को प्राप्त करने हेतु एक अपरा और दूसरी परा इन दोनों ही विद्याओं को एक साथ जानना चाहिए- **'द्वे विद्ये वेदितव्ये .... परा चैवापरा च।'** (मुण्ड०उप० १-१-४) 'अपरा विद्या' और 'परा विद्या' रूपी इन दोनों ही विद्याओं को हमारे द्वारा अज्ञान के अंधकार तथा ज्ञान के प्रकाश रूप में अर्थात् अविद्या और विद्या रूप में जाना गया है तथा श्रुतिज्ञान के इस ज्ञानमय आलोक के आधार पर ही अनवरत् रूपसे चलनेवाले इस सृष्टिचक्र में दिवस एवं रात्रि का अस्तित्व होना स्वीकार किया गया है। इस सृष्टिचक्र को ब्रह्मा के अहोरात्र रूप में विभाजित होना जाना गया है। इन कूट श्लोकों का यह शाब्दिक अर्थ ही अज्ञान के तिमिर में किये जानेवाले कार्य को प्रकट करता है। जिसके आधार पर उपनिषद्वाणी में आये श्रुति कथन - **'अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः'** (कठ०उप० १-२-५ एवं मुण्ड० उप० १-२-८) अर्थात् अंधे व्यक्ति द्वारा ले जाये जा रहे अंधे व्यक्तियों के आचरण को सहज ही जाना जा सकता है। उन कूट श्लोकों का यह प्रकट अर्थ अविद्या को अपनाकर किये जाने वाले कार्य की व्याख्या करनेवाला होता है तथा कर्म बन्धन का कारण बनता है। अतः इन कूट श्लोकों के निहितार्थ या इनके गूढार्थ को जानने तथा लोक व्यवहार की रूढ़ मान्यताओं के आधार पर उन पर विचार करने तथा परस्पर संगति बिठाने हेतु विद्यानिधि श्रीगणेश को भी योगवृत्ति रूप समाधिस्थ चेतना का आश्रय लेकर किंचित देरी के लिये रुक जाना पड़ता है। श्रीगणेश द्वारा प्राप्त की गयी यह समाधिस्थ चेतना की किंचित देरी के लिये महर्षि वेदव्यास को आगे के पद पर विचार करने एवं किसी अन्य कार्य को सम्पन्न

करने हेतु अवसर प्रदान करनेवाली होती थी।

महाभारत ग्रन्थ कथारूप होकर इतिहास लक्षणों से युक्त है। यह सृष्टि-चक्र को गति प्रदान करनेवाला है। जिस प्रकार कोई इतिहास ग्रन्थ अतीत में प्राप्त की गयी पराजय के कारण एव भवष्यि के लिये विजय-पथ का मार्गबोध प्रदान करता है। उसी प्रकार का यह महाभारत ग्रन्थ है। अपने कथारूप में यह अतीत के इतिहास को प्रकट करता हुआ सा भसता है। यह लोकसत्ता के आसन पर बैठकर, मोहग्रस्त अवस्था में किये जाने वाले दुष्प्रयास एवं दुःशासन (कुव्यवस्था) के कारण को प्रकट करता हुआ भविष्य के लिये सुव्यवस्था पर आधारित विजय पथ को आलोकित करता है। अतः इसे इतिहास ग्रन्थ होना कहा गया है। किन्तु इन कूट श्लोकों का निहितार्थ या इनका गूढार्थ ही इस महाभारत ग्रन्थ को पंचम वेद होने की संज्ञा प्रदान करता है। यह लौकिक संस्कृत एवं वैदिक संस्कृत की भिन्नता को जानने में सहायक होता है। गूढार्थ को अपना लेने पर यह तत्त्वतः अक्षर पुरुष का बोध प्रदान करता हुआ प्रत्येक पाठक को अपने ही आत्मा के मित्र और शत्रु स्वरूप- **'बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः'** (श्रीमद्भगवद्गीता ६-५) का परिचय प्रदान करता हुआ आत्मजयी हुआ आत्मयजी बनने की प्रेरणा करता है। इन कूटश्लोंकों का यह गूढार्थ ही महाभारत ग्रन्थ के भारत स्वरूप की व्याख्या करता है तथा इसके मूलरूप जय संहिता स्वरूप को जानने में सहायक होता है। यह गूढ़ार्थ ही अनवरत् रूप से चलने वाले इस सृष्टिचक्र में कर्मपाश का बन्धन क्षीण कर, सबके लिये **'ज्ञानान्मुक्तिः'** का कारण बनता है। यह सब को ही आत्मारूपी संसारवृक्ष के सनातन का बोध प्रदान कर, ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म के बन्धन को भस्मीभूत कर देता है तथा सबके लिये ज्ञानरूपी नौका के द्वारा इस संसार समुद्र को पार कर लेना संभव बनाता है- **सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि**। (श्रीमद्भगवद्गीता ४.३६)

महाभारत ग्रन्थ में महर्षि वेदव्यास द्वारा बोले तथा श्रीगणेश द्वारा लिखे गये वे आठ हजार आठ सौ कूटश्लोक कौन-कौन से हैं, या इनकी वास्तविक संख्या कुल कितनी है? यह गहन चिंतन, अन्वेषण, विश्लेषण तथा सजग चयन की विषय सामग्री है। तथापि इन कूट श्लोकों में उपयोग किये गये वे कूट शब्द कौन-कौन से हैं? जो कि गूढार्थ को धारण करनेवाले हैं; यह जान लेना अतिकठिन कार्य होने के उपरान्त भी इन पंक्तियों के लेखक द्वारा स्वआत्मप्रेरणा से स्वयं ही यह जाना गया है कि महर्षि वेदव्यास द्वारा महाभारत ग्रन्थ की रचना के गानरूप में उपयोग किये गये कुल छः शब्द- **'एकः, एका, एकम्, दश शत् एवं सहस्र'** शब्द गूढार्थ को धारण करनेवाले हैं। किसी चुम्बकीय छड़ में समाहित दक्षिणीध्रुव एवं उत्तरीध्रुव की भाँति ही ये कुल छः सूत्र-शब्द **'षट्पद'** रूप में अविद्या के अंधकार तथा विद्या रूपी ज्ञान के आलोक को धारण करनेवाले हैं। उन कूटशब्दों का प्रकट शाब्दिक गणनात्मक अर्थ लौकिक व्यवहार का आधार बनकर कर्मबन्धन का कारण उपस्थित करता है तथा संग्रहवृत्ति का कारण हो जाता है। अधोगति की ओर ले जाता है; यह अनश्वर को जानने में सहायक होता है; वहीं इन कूटशब्दों का गूढ़ार्थ अमृतमय, सर्वरूप, अक्षर, स्वरूप आत्मा या उस अनश्वर परमात्मा का परिचय प्रदान करनेवाला एवं ऊर्ध्वगति की ओर ले जाने वाला होता है; यह एक साथ **'सम्भूतिं च विनाशं च'** (ईशा० १४) को जानने में सहायक होता है। अतः यही कारण हे कि उपनिषद्वाणी में व्यवहार जगत् रूपी इस संसार समुद्र से पार उतरने अर्थात् अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण करने तथा आत्मकल्याण की प्राप्ति हेतु इन कूटशब्दों के गानरूप में समाहित इनके शाब्दिक अर्थ एवं गूढ़ार्थ इन दोनों को एक साथ जानलेना आवश्यक बतलाया गया है।

महाभारत ग्रथ्य की संरचना में महर्षि वेदव्यास द्वारा उपयोग किये गये इन कुल 'छः सूत्र-शब्दों' के 'लौकिक संस्कृत' में अपनाये गये अभिधा आधारित गणनात्मक अर्थ को तथा 'वैदिक संस्कृत' आध

ाारित ऋचा ज्ञान को प्रकट करनेवाले इनके गूढार्थ को निम्नानुसार जाना गया है। जिसे तालिका रूप में निम्नानुसार प्रकट किया जा रहा है:-

संस्कृत सूत्र-शब्दावली का लौकिक अर्थ एवं वैदिक गूढार्थ

इस प्रकार ये कुल छः सूत्र-शब्द अपने अभधेयार्थ तथा गूढार्थ के द्वारा 'अपरा अवद्या' एवं 'परा विद्या' आधारित लौकिक संस्कृत एवं वैदिक संस्कृत की परस्पर भिन्नता की आधारशिला रखते हैं। जिनके आधार पर धर्म संस्थापक ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा साहित्य में 'प्रेय मार्ग' एवं 'श्रेय मार्ग' पर आधारित दो भिन्न भवनों की संरचना की गयी है। जिनमें निवास करता हुआ कोई व्यक्ति दुःखमय अथवा स्वर्ग की सुखमय जीवनयात्रा को पूर्ण करनेवाला होता है। इन दो भिन्न यात्रा मार्ग को ही अपरा विद्या और परा विद्या रूप में जाना गया है। उन सूत्र-शब्दों का यह शाब्दिक गणनात्मक अर्थ अपरा विद्या को तथा गूढार्थ की परा विद्या को प्रकट करनेवाला होता है। इन सूत्र-शब्दों का यह शाब्दिक गणनात्कम अर्थ ही मोहरूप में संग्रहवृत्ति को अपनाने का कारण बनता है। यह गणनात्मक शाब्दिक अर्थ आवरण रूप में कार्य करता है, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में जागतिक मोह का कारण होना बतलाया गया है- **'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।** (गीता ५-१५) है। किन्तु इनका यह गूढार्थ ही ज्ञानगम्य सर्वरूप परमात्मा का बोध प्रदान करता हुआ वैदिक ऋचाज्ञान को प्रकट करता है; जिसे श्रुति द्वारा समस्त दैवीय शक्तियों को धारण करनेवाला होना कथन किया है:-

ऊँ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
सस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते।।

ऋग्वेद १.१६४.३९, अथर्ववेद ९.१५.१८ एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.८।।

अर्थात् – "जिन वेद ऋचाओं में समस्त दैवी-शक्तियें का निवास है (अर्थात्) जिस वेदज्ञान को जानकर देवगण अपने आत्मस्वरुप को प्राप्त करते हैं। वे अविनाशी ऋचायें सम्पूर्ण आकाश में सर्वत्र ही व्याप्त हैं। जो मनुष्य उनको नहीं जानता, उनके लिये वेद ऋचायें क्या करेंगी? किन्तु जो (मनुष्य) उनको जानते हैं, वे सम्यक् रूप से इनमें ही स्थित हो जाते हैं अर्थात् वे समस्त दैवीय शक्तियों को धारण (भोग) करने लगते है।"

तथा स्पष्ट किया गया है कि जो कोई इस वैदिक ऋचाज्ञान के केवल बाह्यस्वरूप को ही देखता है, तथा इन सूत्र-शब्दों के गूढार्थ को न जानकर मात्र गणनात्मक अर्थ को ही जानता और अपनाता है; वह तो जानता हुआ भी नहीं जानता, देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।

अर्थात् – "जो मन्त्रगत पद के बाह्यस्वरूप को देखता है और उसका उच्चारण अथवा श्रवण करता है वह उस वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता तथा सुनता हुआ भी नहीं सुनता। जो व्यक्ति उस मन्त्र के ऋषि-अभिप्रेम अर्थ को जानता है उसके सामने वह मन्त्र रूप वेदवाणी अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करती है जिस प्रकार एक ऋतुस्नाता पत्नी सुन्दर वस्त्र से सुसज्जित होकर अपने पति के सामने को पूर्णरूप से समर्पित करती है।"

इस प्रकार इन सूत्र-शब्दों का यह गूढार्थ ही वैदिक ऋचा मंत्र के आशय तथा मन्त्रद्रष्टा ऋषि के ऋत कथन को प्रकट करनेवाला होता है। यह ब्रह्मविद्या को प्रकट् करता है। तथा इन सूत्र-शब्दों का प्रकट गणनात्कम अर्थ तो देखते हुए भी नहीं देखने के आधार पर अन्धकार का कारण और जानते हुए भी नहीं जानने के कारण अज्ञान का आधार बन जाता है। जिसके आधर पर श्रुति अपरा विद्या को

अज्ञान के अन्धकार का कारण तथा इसे अविद्या रूप होना वर्णन करती है तथा मन्त्र इस शब्द ज्ञान को अपना लेना ही इस जगत् में अंधे व्यक्ति की भाँति ठोकरें खाते हुए भटकना तथा इस भाषा ज्ञान के आधार पर स्वयं को देववाणी संस्कृत भाषा में पारङ्गत मान लेना तो उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करना और मूर्खता को धारण करना वर्णन करती है:-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव तो तमो य उ विद्याया ँ रताः।। (ईशावास्योपनिषद्-९)

जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते हैं, वे अज्ञान के घोर अन्धकार में प्रवेश करते है। (और) जो मनुष्य यहाँ केवल विद्या में रत हैं अर्थात् इन कुल छः सूत्र-शब्दों के गूढार्थ को अपनाकर जागतिक प्रकट् रूप को बाह्यरूप में देखकर उसका बोध प्राप्त करते हैं, किन्तु उन सबमें अन्तः प्रविष्ट परमात्मा का बोध प्राप्तकर उसे अपने नित्य आचरण में नहीं अपनाते हैं, वे सब मानों उससे भी घने अंधकार में प्रवेश करते हैं।"

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। (कठोपनिषद् १-२-५)

"अविद्या के भीतर रहते हुए, अपने-आप को बुद्धियुक्त विद्वान माननेवाले मूर्खलोग नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए ठीक वैसे ही ठोकरें खाते रहते हैं जैसे किसी उन्धे मनुष्य द्वारा चलाये जानेवाले अन्धे मनुष्य अपना लक्ष्य प्राप्त करके भटकते और कष्ट प्राप्त करते हैं।"

अतः यही कारण है कि भगवती श्रुति द्वारा सम्सत जागतिक व्यापार (व्यवहार) की कुशलता एवं श्रेयस् की प्राप्ति के लिये अविद्या एवं विद्या अर्थात् अपरा विद्या एवं परा विद्या रूप में इन दानों ही अर्थ को एक साथ जान लेना आवश्यक बतलाया गया है तथा अविद्या द्वारा संसार यात्रा पूर्ण करना तथा विद्या द्वारा अमृतत्व का भोग करना प्रकट किया गया है-

विधां चाविधां च यस्तद् वेदोभय ँ सह।
अविधां मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। ।। ईशावास्योपनिषद् ११।।

समस्त जागतिक उपादानों के उत्पत्ति एवं नाशवान स्वरूप को जानकर भोग करने (**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**) को अपनाने तथा सबमें ही अन्तः प्रविष्ट परमात्मा के अनश्वर अक्षरस्वरूप का बोध प्राप्त कर अमृतत्व का भोग करने अर्थात् अभयावस्था को धारण कर जीवनयापन करने का मंगल सन्देश दिया गया है-

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभय ँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।। ईशावस्योपनिषद १४।।

इस प्रकार ये कुल छः सूत्र शब्द अपने गूढार्थ की पूर्णता को धारण करनेवाले होते हैं। ये 'परा विद्या' को प्रकट करते है। गुरु-विष्य परम्परा में इनके गूढार्थ को जान लेना ही ब्रह्मविद्या को प्राप्त करना है। अतः उन्हें 'षट् पद' रूप में भी जाना गया है। अब हम महर्षि वेदव्यास द्वारा बोले गये तथा श्रीगणेश द्वारा लिखे गये कतिपय कूटश्लोकों के अभिधेयार्थ तथा उनके गूढार्थ की चर्चा करेंगे, जिनके आधार पर हमें देववाणी की श्रुति सन्देश और श्रीगणेश के चिन्तन के क्षणों की जानकारी मिलती है:-

(१) महाभारत ग्रन्थ में आये शिशुपाल के वध प्रसंग से हम सब भली-भाँति परिचित हैं। यह प्रसंग महाभारत ग्रन्थ के सभापर्व में आया है। इस प्रसंग में इतिहास-कथा रूप में वर्णन किया गया है कि अपनी बुआ के लड़के शिशुपाल द्वारा किये गये '**शत अपराध**' को क्षमा करने के उपरान्त ही श्रीकृष्णद्वारा चेदिराज दमघोष के पुत्र शिशुपाल का वध किया गया है। विचारणीय है कि यह शत अपराध

ा करना क्या है? यह गणनात्मक रूपमें सौ अपराधों को क्षमा करना है या कि अपराध की पूर्णता पर अपने फूफेरे भाई शिशुपाल को तत्काल की दण्डित किया जाना?

इस बिन्दु पर विचार करने के लिये सर्वप्रथम हमें प्राचीन दण्ड-नीति को जानना होगा। महाभारत ग्रन्थ के वनर्पव में दण्ड-नीति का वर्णन करते हुए महर्षि वेदव्यास ने प्रकट किया है कि जो व्यक्ति जान-बूझकर किये हुए अपराध को भी, उसे कर लेने के पश्चात् अनजान में किया हुआ बताते हों, उन उद्दण्ड पापियों को थोड़े से अपराध के लिये भी अवश्य ही दण्ड देना चाहिये। सब प्राणियों का एक अपराध तो क्षमा ही कर देना चाहिए। यदि उससे फिर दुबारा अपराध बन जाय तो थोड़े से अपराध के लिये भी उसे दण्ड देना आवश्यक है। (महाभारत वनपर्व २८-२८ व २६) यहाँ महर्षि वेदव्यास ने केवल एक ही अपराध क्षमा योग्य होना वर्णन किया है तथा द्वितीय बार अपराध करने पर अवश्य ही दण्डित करने का विधान किया है। उपनिषद्वाणी में भी श्रुति द्वारा वर्णन किया है कि नचिकेता द्वारा अपने पिता के अनुशासन की लगातार तीसरी बार अवहेलना करने पर, ऋषि पिता द्वारा अपने एकमात्र पुत्र नचिकेता को मृत्यु के द्वार पर भेज दिया गया है- **'द्वितीयं तृतीयं त ँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामिति।'** (कठ० उप० १-१- ४) स्पष्ट है कि प्राचीन दण्ड-नीति किसी भी व्यक्ति द्वारा किये गये केवल एक या अधिकतम दो अपराध को ही क्षमा करने का विधान (वर्णन) करती है तथा दो से अधिक बार अपराध की पुनरावृत्ति करने पर रक्तसंबन्ध को भी दण्ड के लिये बाधक नहीं होना प्रकट करती है।

युवराज शिशुपाल के वध प्रसंग में ग्रन्थकार महर्षि वेदव्यास ने वर्णन किया है कि जब शिशुपाल ने जन्म लिया, उस समय चार भुजाएँ एवं तीन नेत्र थे। जन्म के अवसर पर वह रोने की जगह गदेह के भाँति रेंकने लगा था। शिशु के रुदन को सुनकर तथा उस बालक के विकराल रूप को देखकर माता-पिता ने उसका परित्याग करने का निश्चय किया था। किन्तु उस समय हुई देववाणी (आकाशवाणी) द्वारा यह ज्ञात होने पर कि अभी इस बालक की मृत्यु आयी नहीं है। इसकी मृत्यु तो उस व्यक्ति के द्वारा होना निश्चित है; जिसकी गोद मे लिया जाने पर इसकी दो अतिरिक्त भुजाएँ पृथिवी पर गिर जाएँगी तथा जिसे देखकर इसका तीसरा नेत्र ललाट में लीन हो जाएगा। वही इसकी मृत्यु का निमित्त बनेगा। (महाभारत, सभापर्व, अध्याय ४३) इस बात को सुनकर ही पिता चन्देरी के राजा दमघोष एवं माता श्रुतश्रवा द्वारा अपने पुत्र शिशुपाल का लालन-पालन किया गया था। बालक को देखने हेतु आये अनेक राजाओं द्वारा गोद में लिया जाने पर भी बालक शिशुपाल की अतिरिक्त भुजाएँ गिरीं नहीं थी; न उसका तीसरा नेत्र ही लुप्त हुआ था। किन्तु श्रीकृष्ण के आने पर जब माता श्रुतश्रवा द्वारा अपने पुत्र शिशुपाल को श्रीकृष्ण की गोद में दिया गया, तब उसका ललाटवर्ती तीसरा नेत्र लुप्त हो गया तथा दोनों अतिरिक्त भुजाएँ भी पृथिवी पर गिर गयी थीं। इस दृष्य को देखकर तथा श्रीकृष्ण के हाथों अपने पुत्र की मृत्यु होना, मन ही मन जानकर माता श्रुतश्रवा ने उसकी जीवन-रक्ष का वरदान, श्रीकृष्ण से मांग लिया था। इस पर अपनी बुआ की मनोकामना को स्वीकार करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा थ-

अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथा।। महाभारत, सभापर्व ४३- २४।।

अर्थात्- "हे बुआ! तुम्हारा पुत्र अपने दोषों के कारण मेरे द्वारा वध के योग्य होगा तो भी मैं इसके शत अपराध (अर्थात् पूर्णता को प्राप्त अपराध) को क्षमा करुँगा। तुम अपने मन में शोक न करो।"

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ (राज्यारोहण समारोह) में जब युवराज शिशुपाल द्वारा श्रीकृष्ण की अग्रपूजा करने का विरोध किया गया, तो श्रीकृष्ण द्वारा उसके इस अपराध को क्षमा कर दिया

गया था। इस अवसर पर उसके द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति अवमानना भरे वचनों का कथन किया गया। श्रीकृष्ण द्वारा इस अपराध को भी क्षमा कर दिया गया। किन्तु जब वह श्रीकृष्ण को युद्ध का आमंत्रण देकर, पाण्डवों सहित उन्हें मारने के लिये उद्धत हो गया तथा श्रीकृष्ण के क्षमा-कर्म का उपहास करने लगा, तब श्रीकृष्ण ने सभा में उपस्थित महीपालों के समक्ष शिशुपाल की माता तथा अपनी बुआ श्रुतश्रवा को दिये गये वचन- **'अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने।'** (महाभारत, सभापर्व ४५. २३) का उल्लेख करते हुए अपने सुदर्शन चक्र के द्वारा शिशुपाल का वध तत्काल ही कर दिया गया।

उल्लेखनीय है कि इस प्रसंग में ग्रन्थकार महर्षि वेदव्यास द्वारा पितामह भीष्म, यदुवंश एवं कौरवों के प्रति किये गये अनेक अपराधों का वर्णन विस्तार से किया है। जिनके आधार पर दण्ड देने का दायित्व तात्कालीन राज्य-व्यवस्था का रहा है। किन्तु श्रीकृष्ण के प्रति किये गये गणनात्मक रूपसे सौ अपराधों का वर्णन कहीं किया नहीं गया है। इस प्रकार यहाँ 'शत' शब्द का गणनात्मक अर्थ अज्ञान या अविद्या का कारण बना हुआ है। यह शाब्दिक अर्थ कथारूप में मनोरंजन अवश्य करता है, किन्तु समाज में व्यवस्था का कारण बनता बनता नहीं है। यह गणनात्कम अर्थ ही इस जगत् में पराभव का कारण होता है; जिसे भगवती श्रुति ने **'सत्यमेव जयति नानृतं'** (मुण्डकोपनिषद् २-१-६) कहा जाकर प्रकट किया है। (अतीत का इतिहास भी यह प्रकट करता है कि भारत सम्राट पृथ्वीराज द्वारा आततायी, विदेशी आक्रमणकारी के एकाधिक (सोलह) अपराध को क्रमशः क्षमा करते जाना ही विगत काल में भारतराष्ट्र के पराभव एवं लगभग एक हजार वर्ष की दासता का कारण बना है। वर्तमान की अराजकता का कारण भी इसके द्वारा सहज ही जाना जा सकता है।) इस प्रकार यहाँ **'अपराधशतं क्षाम्यं'** लिखने के पूर्व **'शत'** शब्द की प्रसंगिकता तथा इसके गूढार्थ एवं शाब्दिक अर्थ की संगति पर विचार करने के लिए श्रीगणेश को किंचित देरी के लिये रुक जाना पड़ता था। श्रीगणेश विचार करने लगे थे कि जब भी यह शाब्दिक अर्थ इस भारत भूमि पर दण्ड-व्यवस्था को पूर्णतः असफल तब-तब ही अन्तःस्थ प्रभु के प्रसादस्वरूप इस कूट-शब्द के गूढार्थ को जानकर व्यवहार जगत् में अपना लेना ही इस भारतभूमि पर अराजकता के निवारण का आधार बन जावेगा। **'स क्रीडति यथेच्छति'** (महाभारत, शान्तिपर्व ३५१-२२) (अर्थात् वे परम पुरुष जैसी उनकी इच्छा होती है, वैसी ही क्रीड़ा करते है।) आधार पर यह उद्दण्ड अपराधियों को दण्डित करने का श्रुति सम्मत पुरातन आधार उपस्थित कर देगा तथा लोक हितकारी सुव्यवस्था को अपनाने का कारण बन जावेगा। वे यह सोचकर अति आह्लाद का अनुभव करने लगे थे कि 'दश' 'शत' एवं 'सहस्र' शब्द के इस गूढार्थ का जान लिया जाना ही तो इस विराट् पुरुष को प्रकट करने वाला होकर- **'कालः कलयतामहम्'** (गीता १०.३०) आधार पर युगात्कम काल (कलिकाल आधारित अधर्म) के अन्त का आधार उपस्थित कर देगा तथा इस देवभूमि पर सुव्यवस्था का जनक हो जावेगा। वे यह सब सोचकर, मन की प्रफुल्लित अवस्था को धारण करते हुए स्वयं ही कुछ देर रुकने को विवश हो गये थे।

(२). भारतीय जीवन परम्परा में शिलालेख को स्थायित्व का प्रतीक माना गया है। किसी महत्वपूर्ण सन्देश को काल के झंझावातों से बचाकर चिरशाश्वत स्वरूप प्रदान करने का आधार माना गया है। पुराण साहित्य में वर्णन किया गया है गयाजी तीर्थ में गय शिला पर किया गया श्राद्ध कर्म पूर्वजों को (अर्थात् पूर्व में प्राप्त किया है जन्म जिसने, उन सबको ही) मोक्ष प्रदान करता है। राजा गय की धर्मचार्या का वर्णन करते हुए महर्षि वेदव्यास ने महाभारत ग्रन्थ शन्तिपर्व में वर्णन किया है कि राज्य के कुशल संचालन हेतु राजा गय अपने परिचर-सेवकों नित्य ही गौ तथा अश्व भेंट किया करते थे-

शतं गवां सहस्राण शतमशवतराणि च।

उत्थायोत्थाय वै प्रादात् सहस्रं परिवत्सरान्।। महाभारत, शान्तिपर्व २९.११५।।

यहाँ इस शलोक में प्रयुक्त 'शत' एवं 'सहस्र' शब्द के अभिधा आधारित गणनात्मक शाब्दिक अर्थ को अपनाने पर यह संस्कृत श्लोक प्रकट करताहै कि-

"वे (राजा गय) हजार वर्षों तक प्रतिदिन सबेरे उठ-उठ कर एक-एक लाख गौओं और सौ-सौ अश्वों का दान करते थे।"

किन्तु यह शाब्दिक अनुवाद प्रज्ञान द्वारा ग्राह्य होता नहीं है, यह तर्कसंगत लगता नहीं है। यह शाब्दिक अनुवाद दोषपूर्ण प्रकट हो जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मनुष्यमात्र की आयु **'जीवेम् शरदः शतम्'** आधार पर एक सौ वर्ष होना वर्णन हरता है। वयवहार जगत् में भी हम हजार वर्ष की आयु का अस्तित्त्व होना पाते नहीं हैं। अतः हजार वर्षों तक दान करने का कथन सुसंगत न होकर, मिथ्याभाषण करना या अनृत को अपनाना हो जाता है। परिचरों को भेंट करने हेतु प्रतिदिन के लिये आवश्यक गौ एवं अश्वों की संख्या के आधार पर भी वर्णन व्यावहारिक धरातल पर खरा उनरता नहीं है। यह राज्य-संचालन की कुशलता को प्रकट नहीं करता, अपितु यह तो अज्ञान के अंधकार मे ले जाता है, यहाँ शासन कार्य की व्यावहारिकता न होकर अतिशयोक्ति का साम्राज्य उपस्थित हो गया है। किन्तु यदि हम शत एवं सहस्र शब्द के निहितार्थ या गूढार्थ को अपनाते हैं, तो यह किसी राजर्षि द्वारा अपनाए गये राजर्धम को सूचित करनेवाला एक कूट श्लोक होना प्रकट होता है तथा लोक परम्पराओं द्वारा समर्थित निम्न गूढ़ संदेश को प्रकट लगता हैः-

"वे (राजा गय) अनेक वर्षों तक प्रतिदिन सबेरे उठ-उठ कर पूर्णता को प्राप्त अनेक गौओं को तथा वयस्कता (पूर्णता) को प्राप्त अनेक अश्वों को, अपने परिचारकों को भेंट किया करते थे।" (अर्थात् प्रजनन एवं दूध देने योग्य गायों का न कि **'पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया'** (कठोपनिषद् १.१.३) गायों का एवं अवयस्क अश्वों का ही।)

इस प्रकार शत एवं सहस्र शब्द का यह गूढार्थ ही राज धर्म के गूढतत्त्व को प्रकट करनेवाला होता है। यह राजगय हेतु गय शिला के अभिलेख स्वरूप को उजागर करता है। जिसे लेखबद्ध करने के पूर्व इसके अभिलेख स्वरूप पर विचार करनक हेतु विद्यानिधि श्रीगणेश की भी किंचित समय के लिये रुक जाना पड़ा था। अनवर रूप से चलनेवाले अहोरात्र आधारित सृष्टिचक्र में गय शिला के इस संधारणकर्ता स्वरूप पर और पूर्वजों के मोक्षदायी स्वरूप पर विचार करने के लिये विवश होकर वे कुछ देर के लिये रुक गये थे कि इस गूढार्थ को अपना लेना ही **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** आधार पर इस भारतभूमि पर युगान्तरकारी परिर्वतन को लाने वाला होता है। यह सबको ही जन्म-कर्म के बन्धन से युक्त करता है। इस प्रकार यह गूढार्थ ही श्रीरामकथा में आये संत तुलसीदास के कथन- **'लागहि कुमुख बचन सुभ कैसे। मगहँ गयादिक तीरथ जैसे।'** (श्रीरामचरितमानस २.४३.७) को स्पष्ट करने में भी सहायक हो जाता है। और, यही राजा गय का देव संस्कृति अर्थात् इस संस्कृत-सूत्र- शब्दावली की रक्षा करनेवाला चिरस्थायी शिलारूप होना प्रकट है, जिसके आधार पर उन्हें राक्षस कहा जाना **'रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः'** प्रकट् होता है और यह सहज ही प्रकट् कर देता है। भारतीय शिलालेख परम्परा के आदिम स्रोत को भी।

(३). इस अवसर पर बानगी स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीता के निम्न दो श्लोक में समाहित धर्म-संदेश को भी इस सूत्र-शब्दावली के गूढार्थ को अपनाकर ही जाना जा सकता है। व्यवहार जगत् में इन कूट (सूत्र) शब्दों के शाब्दिक अर्थ को अपनालेना तो पुनर्जन्म को प्राप्त करने एवं इस भू-लोक में असुरवृत्ति को धारण करने का कारण बनता है तथा इनका यह गूढार्थ ही विराट् पुरुष का बोध प्रदान करनेवाला

तथा मोक्ष को प्रदान करनेवाला होता है। देववाणी संस्कृत भाषा में इन सूत्र-शब्दों का यह गूढार्थ ही दिव्य चक्षु प्रदान करनेवाला है; जिसे अपनाया जाकर उस परमात्मा के विराट् विश्वरूप को मन के द्वारा देखना और प्राप्त करना सबके लिये संभव हो जाता है।

(अ). इस भू-लोक में 'शत' शब्द के गणनात्मक अर्थ या शब्दिक अनुवाद को आधारभूत रूप में अपना लेना ही इस जीवात्मा के लिये पुनर्जन्म को प्राप्त करने एवं निम्न योनियों में जन्म प्राप्त करने का कारण होता है। यह शाब्दिक अनुवाद इस जीवात्मा को कर्म के बन्धन में डालनेवाला होता है। इस जगत् में कर्मफल के बंधन-रहस्य को प्रकट करते हुए आत्मपुरुष, योगेश्वर, सद्गुरु श्रीकृष्ण का कथन है कि-

आशापाशशतैर्बद्धाः क्रामकोधपरायणः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।

।। श्रीमद्भगवद्गीता १६.१२ एवं १६।।

अर्थात्-"आशा के बन्धन से पूर्णरूपेण बंधा होकर ही मनुष्य काम (एवं) क्रोध के परायण (वशीभूत) होकर विषय-भोगों के लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करता है। उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं इस संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ।"

यह हम यहाँ आशापाशशतैर्बद्धाः पद का अनुवाद आशारूपी कामना के सैकड़ों बंधन में बंधा होना करते हैं, तो यह अव्यावहारिक या अतिशयोक्ति करना होता है। जिसके आधार पर इस एक मानव जन्म में मोक्ष प्राप्त करना (**'इह चेदवेदीदथ'** केन० उप० २.५ एवं कठ० उप० २.३.४) असंभव हो जाता है। अतः यह किसी भी जिज्ञासु आत्मसाधक को हताश करनेवाला हो जाता है। किन्तु जब हम 'शत' शब्द का गूढार्थ अपनाकर इस पद का शब्दानुवाद आशा के बंधन से पूर्णरूपेण बंधन से पूर्णरूपेण बंधना करते हैं, तब यह अनुवाद मनोगत कामना के परिवेश को प्रकट करत हुआ उसके परित्याग या मनः संयम की ओर ले जाने वला हो जाता है। यह संयमित जीवन को अपनाने या शम को धारण करने का कारण बन जाता है। यह इस एक मानवजन्म में शरीर का पतन होने से पहले उस अन्तःस्थ पुरुष को प्राप्त करना या उसका बोध प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान लगता है। इस जगत् में किसी आशा या फलाकाँक्षा के वशीभूत होकर ही कोई व्यक्ति अन्याय की और प्रवृत्त होता है। किसी कामना की पूर्ति न होने पर वह अशान्त अवस्था को प्राप्त होकर क्रोध को अपना लेता है तथा अशान्तस्य कुतः सुखम् अवस्था को प्राप्त कर लोत है। इस हेतु सैकड़ों आकाँक्षाओं या मनोकामनाओं की आवश्यकता होती नहीं है। वह किसी एक मनोकामना की पूर्ति हेतु अन्यायपूर्वक सामग्री का उपार्जन एवं संग्रहण करने लगता है। जिसके परिणाम स्वरूप वह अवनति की ओर जाकर निम्नतर योनियों में जन्म को प्राप्त करनेवाला होता है। यही कारण है कि पुराण साहित्य में मानवदेह को प्राप्त करना इस जीवात्मा के लिये दुर्लभ अवसर को प्राप्त करना कहा गया है- **'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।'** (श्रीमद्भागवत ११.२.२९)। अतः यहाँ पर शत शब्द का अर्थ पूर्णता होना ही श्रीगणेश के लिये चिंतन की यवतिका प्रदान करनेवाला होना प्रकट होता है।

(ब). इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में अपना विराट् विश्वरूप दिखाने के पूर्व आत्मपुरुष, योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा अपने सखा एवं शिष्य अर्जुन से कहा गया है कि तू अपने इन पार्थिव नेत्रों के द्वारा मेरे इस दिव्य विश्वरूप को देखने में असमर्थ है। अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ। **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** (गीता ११.८) जिनकी सहायता से तू मेरे इस विराट् विश्वरूप को देख-

'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णकृतीनि च।।' श्रीमद्भगवद्गीता ११.५।।

यहाँ इस श्लोक मे आए 'शत' एवं 'सहस्र' शब्द का अभिधा शाब्दिक अर्थ करने पर इस संस्कृत श्लोक का अनुवाद होता है- हे पार्थ! अब तू मेरे सैकड़ों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा नान आकृतिवाले भिन्न भिन्न अलौकिक रूपों को देख। इस प्रकार का यह शाब्दिक अनुवाद इस जगत् में नाना (भेदपूर्वक) देखनें का आधार उपस्थित करता है। जिसे श्रुति ने पुनर्जन्म का कारण होना प्रकट किया है। कठोपनिषद् में भगवती श्रुति का कथन है कि इस अतिसूक्ष्म मात्मतत्त्व को मन के द्वारा ही देखा और प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ इस जगत् में आत्मा से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है जो कोई यहाँ आत्मा से भिन्न किसी अन्य को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु की ओर जाता है अर्थात् वह पुनर्जन्म को प्राप्त करता है-

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति। ।। कठोपनिषद् २.२.११।।

किन्तु जब हम इस संस्कृत श्लोक में प्रयुक्त हुए शत एवं सहस्र शब्द के गूढार्थ को अपनाकर इस पद का अनुवाद करते हैं, तब यह श्लोक निम्न अर्थ को सूचित करनेवाला हो जाता है- "हे पार्थ! अब तू मेरे पूर्णता को धारण करनेवाले अनेक रूपों (अन्नत या सर्वरूप) को देख। सैकड़ो या हजारों को नहीं।) ये सब नाना प्रकार की दिव्यता को नाना वर्ण एवं नाना आकृतियों को धारण करनेवाले है।" इस प्रकार का यह अकनुवाद श्रुति कथन **'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'** (बृह.उप. ५.१.१) आधार पर सर्वस्वरूपमें पूर्णता का बोध प्रदान करता हुआ यह सब कुछ एक परमपुरुष ही है- **'पुरुष एवेदं सर्व।"** (ऋग्वेद १०.९०.२; यजुर्वेद ३१.२; अथर्वेद १९.६.२ एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.१५) को प्रकट करने लगता है। जिसे जान लेना सबके लिये अमृतत्व को प्राप्त करने का कारण होता है- **'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।'** (केनोपनिषद् २.५) इस प्रकार यह गूढार्थ इस पूर्णपुरुष को प्रकट कर देता है, जिसे विराट् विश्वरूप में देख लेने के उपरान्त शिष्य एवं सखा अर्जुन ने कहा है:-

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप। श्रीमद्भगवद्गीता ११.१६।।

अर्थात्- हे विश्वेश्वर! मैं आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। विश्वरूप मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही।"

यहाँ सखा एवं शिष्य अर्जुन ने अनेक भुजा, अनेक पेट, अनेक मुख और नेत्रों से युक्त उस परम पुरुष को सर्वत्र ही उपस्थित हुआ देखा है। किन्तु यहाँ अनेक सिर और अनेक पैर का वर्णन नहीं किया गया है। इस प्रकार नाना रूपों का यह वर्णन अधूरा ही रहता है। किन्तु जब हम वेदवाणी में आये पुरुषसूक्त की प्रथम ऋचा में प्रकट हुए विराट् विश्वरूप- **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्!"** (ऋग्वेद १०.९०.१, युजर्वेद ३१.१ अर्थर्ववेद १९.६.१ एवं श्वेत.उप. ३.१४) के साथ इस वर्णन को पढते है तथा एक ही नेत्र बोध को अपनाते हैं, तब वह पूर्णपुरुष सर्वत्र ही अनेक सिर, अनेक नेत्र अनेक मुख, अनेक बाहु, अनेक पेट और अनेक पैरों से युक्त पूर्ण पुरुष रूप में सर्वत्र ही पूर्णता को धारण करता हुआ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार जिस विराट्र विश्वरूप को प्राकृत नेत्रों के द्वारा देख पाना संभव होता नहीं है। उसे तो 'शत' एवं 'सहस्र' शब्द के इस गूढार्थ को अपनाकर ही मनःचक्षुओं द्वारा देखना और ज्ञानगम्य अवस्था में प्राप्त कर लेना संभव हो जाता है। जिसे श्रुति द्वारा - **'पश्यत्यचक्षुः श्रृणोत्यकर्णः।**

स वेत्ति वेद्यं।' (श्वेता. उप. ३.१९) अर्थात् वह चक्षु रहित होकर भी देखनेवाला, कर्णध्वनि के न रहते हुए भी ऋचा सन्देश को सुननेवाला तथा जो कुछ जानने योग्य है, इस को ही जाननेवाला कहा गया है, तथा जिसे **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो'** (मुण्ड उप. ३.२.९) अर्थात् यह सूक्ष्म आत्मा स्वचेतना (मन) के द्वारा जानने में आनेवाला है। वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस गूढार्थ को जान लेना ही मनीषी पुरुषों के लिये गीतावाणी में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय सखा एवं शिष्य अर्जुन को प्रदान किये गये- **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** (गीता ११.८८) को प्राप्त कर लेना होता है।

(इस प्रकार यहाँ सहस्र शब्द का अर्थ अनेक होना स्वतः प्रमाणित है। वैदिक वाङ्मय में 'शत' शब्द का अर्थ पूर्णता एवं 'सहस्र' शब्द का अर्थ अनेक बहुत अन्नत या सर्व ही यह निम्न वैदिक ऋचामंत्र द्वारा भी प्रकट् होता है। स्थूल अग्नि आधारित यज्ञकर्म की पूर्णता के समय हमारे द्वारा निम्न ऋचा-मंत्र का उच्चारण किया जाता है:-)

ऊँ वसोः पवित्रमसि शमघारमू वसोः पवित्रमसि सहस्रधारमू।
देवस्त्वासविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतघारेण सुप्वपाकामधुक्षः।। यजुर्वेद १.३।।

और, इस ऋचा मंत्र मे इच्चारण के साथ ही प्रथम यजमान द्वारा यज्ञाग्नि में अखण्डित घृतध ारा द्वारा तथा इसके साथ-साथ अन्य समस्त होताओं द्वारा अग्निकुण्ड में आहुति समर्पित की जाती है जो कि पूर्ण एक एवं अनेक होती है। इस प्रकार यह इस संस्कृत-सूत्र-शव्दावली के गूढार्थ को व्यावहारिकता के धरातल पर अपनाना, प्रकट करना और जान लेना है। यदि हम यज्ञकर्म की पूर्णाहुति के अवसर पर उच्चारण किये जाने वाले इस वैदिक ऋचमन्त्र का अर्थानुवाद प्रथम घृत की एक सौ ध ाराओं के साथ ही एक हजार घृत धाराओं द्वारा आहुति प्रदान करना करते हैं तो यह स्थूल अग्नि की यज्ञवेदी पर कदापि संभव होता नहीं है।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट हो जाता है कि देववाणी संस्कृत भाषा के प्राचीन आर्षग्रन्थ और वैदिक एवं उपनिषद् साहित्य में 'शत' शब्द का निहितार्थ अखण्डित पूर्णता एवं 'सहस्र' शब्द का अर्थ अनेक बहुत अनन्त, समस्त या सर्व ही अभिधेयार्थ आधारित गणनात्कम अर्थ सौ या हजार नहीं।

महाभारत ग्रन्थ के लेखन कार्य में विद्यानिधि और सिद्धिदाता श्रीगणेश के चिंतन के क्षणों की यह त्रिपाद् बानगी मनीषी पाठकों, शिक्षाजगत् के कर्णधारों एवं धर्म क्षेत्र के उपदेशकर्ताओं के लिये विचारार्थ प्रस्तुत है, जिसके आधार पर महाभारत ग्रन्थ के इतिहास रूप में समाहित **'पंचमू वेद स्वरूप'** को तथा श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय सखा व शिष्य अर्जुन को प्रदान किये गये **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** के रहस्य को जाना जा सकता है। और, इसके आधार पर ही महाभारत ग्रन्थ के मूल स्वरूप जय संहिता **'श्रुति कथन आत्मना विन्दते वीर्यमू'** (केन.उप. २.२.४) आधार पर सब के लिये संसार में विजय प्राप्त करने के आधार को सहज रूप जाकर उसके विकसित स्वरूप **'भारत संहिता'** स्वरूप यहाँ विचारणीय है कि भारत शब्द की व्युत्पत्ति भ+रत = भरत, रूप में होती है। भा शब्द पद रूप में भस्वरता या मन की भासमान समुज्ज्वल अवस्था (स्मरण करें- **'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।'** (गीता २.६०)) को प्रकट करता है। यह शब्द गुणात्मक अवस्था या अर्थ को धारण करता है तथा रत शब्द क्रियात्मक पद होकर निरत या प्रयासरत अवस्था को सूचित करनेवाला होता है। इस प्रकार भारत शब्द का अर्थ होता है-अपनी भासमान या समुज्जवल अवस्था को धारण करने हेतु प्रयासरत है, वही भारत है। का निर्धारण किया जा सकता है।

इस प्रकार इन छः सूत्र (कूट) शब्दों के गूढार्थ को अपनाकर ही वैदिक ऋचाज्ञान का बोध प्राप्त कर लेना संभव होता है। इनका यह गूढार्थ ही श्रुति कथन **'परोक्ष प्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'**

(बृह.उप. ४.२.२) आधार पर युगान्तरकारी होकर देव संस्कृति को उजागर करता हुआ, वेदवाणी द्वारा स्थापित धर्म- **'वेद प्रणिहितो हि धर्मः'** को प्रकट करने लगता है। यह इस सृष्टिचक्र में दिवस का आगमन सूचित करता है। अन्यथा इन सूत्र-शब्दों का प्रकट् शाब्दिक अथवा गणनात्मक अर्थ .तो आवरणरूप होकर अज्ञान स्वरूप है। यह जागतिक व्यवहार में मोह का कारण बनता है, जिसे गीतावाणी में 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' (गीता ५.१५) कहा जाकर प्रकट किया गया है। अज्ञान का यह अंधकार की अनवरत् रूप से चलनेवाले इस सृष्टिचक्र में रात्रि में जाना जाता है। जिसे आत्मपुरुष, योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा-

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (गीता २.६९)

कहा गया है। इस प्रकार इन सुत्र-शब्दों का यह गूढार्थ ही सर्वरूप परमाप्मा के एक से अनेक हो जाने **'एकोऽहम् बहुस्याम्'** के चतुष्पाद् (चार-लक्षण युक्त) विस्तार सहस्य को प्रकट करता है। यह वैदिक संस्कृत एवं लौकिकं संस्कृत की परस्पर भिन्नता का कारण बतना है। यह अनवरत् रूप से चलनेवाले इस सृष्टिचक्र मे ज्ञान के आलोक आधार पर दिवस् का कारण होता है। यह अपरा विद्या में अपनाई गयी समस्त कालगणनाओं का अन्त करता है। और, इन सूत्र-शब्दों का प्रकट गणनात्मक अर्थ ही अज्ञान के अन्धकार आधार पर रात्रि रूप में अहोरात्र का सृजन करने वाला जाना जाता है।

इस प्रकार अन्ततः साररूप में स्पष्ट है कि इन सूत्र (कूट) शब्दों का यह गूढार्थ ही वेदवाणी के ऋचा संदेश एवं देववाणी संस्कृत के आर्षस्वरूप (अग्निपुरुष के विस्तार रहस्य) को प्रकट करने वाला है। और यही महर्षि वेदव्यास द्वारा धर्मरूप आत्मा के चतुष्पाद विस्तार अर्थात् एक ही वेद ज्ञान- **'पुरुष ऐवेदं सर्वं'** को चार भाग में विभाजित किया जाकर प्रकट करना (अन्तःप्रज्ञानुसार) विदित होता है, जिसे अपनाया जाकर विद्यानिधि श्रीगणेश को भी पंचम् वेद रूप में इतिहास ग्रन्थ महाभारत को लिखते समय किंचित देरी के लिये रुक जाना पड़ता था। इति शम्।

परब्रह्म प्राप्ति का उपायरूप ओंकार (ॐ)

शिशु खजूरिया
पी-एच०डी० शोध छात्रा
संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

ॐ ही ब्रह्म है। जो ब्रह्म है, वह ओंकार से बताया जाता है ओंकार में ही समस्त विश्व है। जो यहाँ है, वे सब ओंकार से वर्णित होता है। भाव यह है कि ॐ यह परब्रह्म परमात्मा का नाम होने से साक्षात् ब्रह्म ही है, क्योंकि भगवान् का नाम भी भगवत्स्वरूप ही होता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला समस्त जगत् ॐ अर्थात् ब्रह्म का ही स्थूलरूप है। ॐ यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदन का सूचक है अर्थात् जब किसी बात का अनुमोदन करना होता है तब श्रेष्ठ पुरुष परमेश्वर के नाम स्वरूप इस ओंकार का उच्चारण करके संकेत से उसका अनुमोदन कर दिया करते हैं। दूसरे व्यर्थ शब्द नहीं बोलते, यह बात प्रसिद्ध है। जब शिष्य अपने गुरु से तथा श्रोता किसी व्याख्यानदाता से उपदेश सुनने के लिये प्रार्थना करता है, तब गुरु और वक्ता भी ॐ इस प्रकार कहकर ही उपदेशसुनना आरम्भ करते हैं। सामवेद का गान करने वाला भी "ॐ" इस प्रकार पहले परमेश्वर के नाम का भली-भाँति गान करके उसके बाद सामवेद का गान किया करते हैं।

यज्ञ कर्म में शास्त्र शंसनरूप कर्म करने वाला शास्ता नामक ऋत्विक "ओम्" "शोम्" इस प्रकार कहकर ही शास्त्रों का अर्थात् तद्विषयक मन्त्रों का पाठ करते हैं। यज्ञ कर्म करने वाले अध्वर्यु नाम ऋत्विक भी "ॐ" इस परमेश्वर का नाम उच्चारण करके ही प्रतिगर मन्त्र का उच्चारण करते हैं। ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक) भी "ॐ" इस प्रकार परमात्मा के नाम का उच्चारण करके यज्ञ करने के लिये अनुमति देता है तथा "ॐ" ज्यों कहकर ही अग्निहोत्र करने की आज्ञा देता है। अध्ययन करने के लिए उद्यत ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी "ॐ" इस प्रकार परमेश्वर के नाम का पहले उच्चारण करके कहता है कि मैं वेदों को भली प्रकार पढ़ सकूँ अर्थात् ओंकार जिसका नाम है, उस परमेश्वर से ओंकार के उच्चारणपूर्वक यह प्रार्थना करता है कि मैं वेद का वैदिक ज्ञान प्राप्त कर लूँ, ऐसी बुद्धि दीजिए इसके फलस्वरूप वह वेद को निःसंदेह प्राप्त कर लेता है।[1]

उपनिषदों में परब्रह्म परमात्मा के समग्र रूप का तत्त्व समझाने के लिए उनके चार पादों की कल्पना की गई है नाम और नामी की एकता का प्रतिपादन करने के लिए प्रणव की – अ, उ और म – इन तीन मात्राओं के साथ और मात्रारहित उसके अव्यक्तरूप के साथ परब्रह्म परमात्मा के एक-एक पाद की समता दिखलाई गई है।

परमात्मा का नाम जो ओंकार है, उसको पुरुषोत्तम से अभिन्न मानकर यह कहा गया है कि 'ओम्' यह अक्षर ही पूर्णब्रह्म अविनाशी परमात्मा है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला जड़-चेतन का समुदायरूप सम्पूर्ण जगत् उन्हीं उपव्याख्यान अर्थात् उन्हीं की निकटतम महिमा का निदर्शक है। जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् पहले उत्पन्न होकर उनमें विलीन हो चुका है और जो इस समय वर्तमान है तथा जो उनसे उत्पन्न होने वाला है, वह सब का सब ओंकार ही है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही है तथा तीनों कालों से अतीत इससे भिन्न है, वह भी ओंकार ही है।[2] अभिप्रय यह है कि जो कोई परब्रह्म को केवल साकार मानते हैं या निराकार मानते हैं या सर्वथा निर्विशेष मानते हैं, उन्हें सर्वज्ञाता, सर्वाधारता, सर्वकारणता, सर्वेश्वरता, आनन्द, विज्ञान आदि कल्याणमय गुणों से सम्पन्न नहीं मानते, वे सब उन परब्रह्म के एक-एक अंश को ही परमात्मा मानते हैं। पूर्णब्रह्म परमात्मा साकार भी हैं, निराकार भी हैं तथा साकार-निराकार दोनों से रहित भी हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है और वे इससे सर्वथा अलग भी हैं। वे सर्वगुणों से रहित निर्विशेष भी हैं और सर्वगुण सम्पन्न भी हैं, यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। सबका सब ब्रह्म है इसलिए सब का सब ओंकार है। यह सम्पूर्ण जगत् उस परब्रह्म परमात्मा का शरीर है और वे इसके अन्तर्यामी आत्मा हैं। इसलिए वे सर्वात्मा ब्रह्म हैं। यह परमात्मा चार चरणों वाला है अर्थात् चार पाद वाले हैं।[3]

जाग्रत अवस्था में इस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा सिर से लेकर पैर तक सात अंगों से युक्त होकर स्थूल विषयों के उपभोग के द्वाररूप दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण – इस प्रकार इन उन्नीस मुखों से विषयों का उपभोग करता है और उसका विज्ञान बाह्य जगत् में फैला रहता है। वह सर्वरूप वैश्वानर उन पूर्णब्रह्म परमात्मा का पहला पाद है।[4]

जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म शरीर का अभिमानी जीवात्मा पहले बताये हुए सूक्ष्म सात अंगों वाला और उन्नीस मुखों वाला होकर सूक्ष्म विषयों का उपभोग करता है और उसी में उसका ज्ञान फैला रहता है उसी प्रकार जो स्थूल अवस्था से भिन्न सूक्ष्म रूप में परिणत हुए सात लोकरूप, सात अंग तथा इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणरूप उन्नीस मुखों से युक्त सूक्ष्म जगत् रूप शरीर में स्थित उसका आत्म हिरण्यगर्भ है, वह समस्त जड़-चेतनात्मक सूक्ष्म जगत् के समस्त तत्त्वों का नियन्ता, ज्ञाता और सबको अपने में प्रविष्ट किये हुए हैं। इसलिये उसको भोक्ता और जानने वाला कहा जाता है। वह तेजस अर्थात् सूक्ष्म प्रकाशमय हिरण्यगर्भ उन पूर्णब्रह्म परमात्मा का दूसरा पाद है।[5]

जिस अवस्था में सोया हुआ मनुष्य किसी प्रकार के किसी भी भोग की न तो कामना करता है और न अनुभव करता है तथा किसी प्रकार का स्वप्न भी नहीं देखता है, ऐसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस सुषुप्ति अवस्था के सदृश जो प्रलयकाल में जगत् की कारण अवस्था है, जिसमें नाना रूपों का प्राकट्य नहीं हुआ है – ऐसी अव्याकृत प्रकृति ही जिसका शरीर है तथा जो एक अद्वितीय रूप में स्थित है, उपनिषदों में जिसका वर्णन कहीं सत् के नाम से और कहीं आत्मा के नाम से आया है, जिसका एकमात्र चेतना (प्रकाश) ही मुख है और आनन्द ही भोजन है, वह विज्ञानघन, आनन्दमय प्राज्ञ ही उन पूर्णब्रह्म का तीसरा पाद है।[6]

जिस परमेश्वर का तीनों पादों के रूप में वर्णन किया गया है, वे सम्पूर्ण ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। ये ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं। ये ही सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के स्थान ये ही हैं।[7]

प्रश्नोपनिषद् में तीनों मात्राओं से युक्त ओंकार के द्वारा परम पुरुष परमेश्वर का ध्यान करने की बात कही गई है। अतः पूर्व वर्णित वैश्वानर, तेजस और प्राज्ञ परमेश्वर के ही नाम हैं अलग-अलग स्थिति में उन्हीं का वर्णन भिन्न-भिन्न नामों से किया गया है।

पूर्णब्रह्म परमात्मा के चौथे पाद के विषय में बताया गया है कि जिसका ज्ञान न तो बाहर की ओर है न भीतर की ओर है और न दोनों ही ओर है, जो न ज्ञानस्वरूप है न जानने वाला है और न नहीं जानने वाला है, जो न देखने में आ सकता है, न व्यवहार में लाया जा सकता है, न ग्रहण करने में आ सकता है, न चिन्तन करने में, न बतलाने में आ सकता है और न जिसका कोई लक्षण है, जिसमें समस्त प्रपञ्च का अभाव है, एकमात्र परमात्मसत्ता की प्रतीति ही जिसमें सार (प्रमाण) है, ऐसा सर्वथा, शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व पूर्णब्रह्म का चौथा पाद है। इस प्रकार जिसका चार पादों में विभाग करके वर्णन किया गया, वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हीं को जानना चाहिए।[8]

ये परब्रह्म परमात्मा जिनके चार पादों का वर्णन किया गया है, यहाँ अक्षर के प्रकरण में अपने नाम से अभिन्न होने के कारण तीन मात्राओं वाला ओंकार है। 'अ, उ और म'– ये तीनों मात्राएँ ही उनके उपयुक्त तीन पाद हैं और उनके तीन पाद ही ओंकार की तीन मात्राएँ हैं, जिस प्रकार ओंकार अपनी मात्राओं से अलग नहीं है, उसी प्रकार अपने पादों से परमात्मा अलग नहीं है।[9]

परब्रह्म परमात्मा के नामात्मक ओंकार की जो पहली मात्रा 'अ' है यह समस्त जगत् के नामों में अर्थात् किसी भी अर्थ को बतलाने वाले जितने भी शब्द हैं, उन सब में व्याप्त है। स्वर अथवा व्यंजन – कोई भी वर्ण अकार से रहित नहीं है। श्रुति भी कहती है 'अकारों वै सर्वा वाक्' गीता में भी भगवान् ने कहा है कि अक्षरों में मैं 'अ' हूँ तथा समस्त वर्णों में 'अ' ही पहला वर्ण है।

इसी प्रकार इस स्थूल जगत् रूप से विराट शरीर में वे वैश्वानररूप अन्तर्यामी परमेश्वर व्याप्त हैं और विराट रूप से सबके पहले स्वयं प्रकट होने के कारण इस जगत् के आदि भी वे ही हैं। इस प्रकार 'अ' की और जगत् की भाँति प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले इस स्थूल जगत् रूप शरीर में व्याप्त वैश्वानर नामक प्रथम पाद की एकता होने के कारण 'अ' ही पूर्णब्रह्म परमेश्वर का पहला पाद है, जो मनुष्य इस प्रकार अकार और विराट शरीर के आत्मा परमेश्वर की एकता को जनाता है और उनकी उपासना करता है, सब सम्पूर्ण कामनाओं को अर्थात् इच्छित पदार्थों को पा लेता है और

जगत् में प्रधान सर्वमान्य हो जाता है।[10]

परब्रह्म परमात्मा के नामात्मक ओंकार की दूसरी मात्रा जो 'उ' है, यह 'अ' से उत्कृष्ट (ऊपर उठा हुआ) होने के कारण श्रेष्ठ है तथा 'अ' और म इन दोनों के बीच में होने के कारण उन दोनों के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः यह उभयरूप है। इसी प्रकार वैश्वानर से तेजस उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञ के मध्यम होने से वह उभय सम्बन्धी भी है। इस समानता के कारण ही 'उ' को 'तेजस' नामक द्वितीय पाद कहा गया है। भाव यह है कि इस स्थूल जगत् के प्राकट्य से पहले परमेश्वर के आदि संकल्प द्वारा जो सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है, जिसका वर्णन मानस सृष्टि के नाम से आता है, जिसमें समस्त तत्त्व तन्मात्राओं के रूप में रहते हैं, स्थूलरूप में परिणत नहीं होते। उस सूक्ष्म जगत् रूप शरीर में चेतना प्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ परमेश्वर इसके अधिष्ठाता होकर रहते हैं तथा कारण जगत् और स्थूल जगत् इन दोनों से ही सूक्ष्म जगत् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये ये कारण और स्थूल दोनों रूप वाले हैं। इस तरह 'उ' की और मानसिक सृष्टि के अधिष्ठाता 'तेजसरूप' दूसरे पाद की समानता होने के कारण 'उ' ही परब्रह्म परमात्मा का दूसरा पाद है, जो मनुष्य इस प्रकार 'उ' और तेजोमय हिरण्यगर्भ रूप की एकता के रहस्य को समझ लेता है, वह स्वयं इस जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों को भली-भाँति प्रत्यक्ष कर लेता है। इस कारण इस ज्ञान को परम्परा को उन्नत करता है उसे बढ़ाता है तथा समभाव वाला हो जाता है, क्योंकि जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों को समझ लेने के कारण उसका वास्तविक रहस्य समझ में आ जाने से उसकी विषमता का नाश हो जाता है। इसलिये उससे उत्पन्न हुई संतान भी कोई ऐसी नहीं होती जिसको हिरण्यगर्भ परमेश्वर उपयुक्त रहस्य का ज्ञान न हो जाये।[11] परमात्मा के नामात्मक ओंकार की जो तीसरी मात्रा 'म' है यह 'मा' धातु से बना है। 'मा' धातु का अर्थ माप लेना यानी अमुक वस्तु इतनी है, यह सझ लेना है। यह 'म' ओंकार की अन्तिम मात्रा है। 'अ' और 'उ' के पीछे उच्चरित होती है। इस कारण दोनों का माप इसमें आ जाता है। अतः यह उनको जानने वाला है तथा 'म' का उच्चारण होते-होते मुख बंद हो जाता है। 'अ' और 'उ' दोनों उसमें विलीन हो जाते हैं, अतः वह दोनों मात्रों को विलीन करने वाला भी है। सुषुप्तस्थानीय कारण जगत् का अधिष्ठाता प्राज्ञ भी सर्वज्ञ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण – इन तीन अवस्थाओं में स्थित जगत् को जानने वाला भी है। कारण जगत् से ही सूक्ष्म और स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है और उसी में उनका लय होता है। इस प्रकार "म" की और कारण जगत् के अधिष्ठाता प्राज्ञ नामक तीसरे पाद की समता होने के कारण 'म' रूप तीसरी मात्रा ही पूर्ण ब्रह्म का तीसरा पाद है। इस प्रकार जो मनुष्य 'म' और प्राज्ञ स्वरूप परमेश्वर की एकता को जानता है इस रहस्य को समझकर ओंकार के स्मरण द्वारा परमेवर का चिन्तन करता है वह मूलसहित सम्पूर्ण जगत् को भली प्रकार जान लेता है और सबको विलीन करने वाला हो जाता है, अर्थात् उसकी ब्रह्म दृष्टि निवृत्ति हो जाती है। अतः वह सर्वत्र एक परब्रह्म परमेश्वर ही देखने वाला बन जाता है।[12]

परब्रह्म परमात्मा के नामात्मक ओंकार का जो मात्रारहित बोलने से न आने वाला निराकार स्वरूप है वही मन वाणी का अविषय होने से व्यवहार में न लाया जा सकने वाला, प्रपञ्च से अतत, कल्याणमय, अद्वितीय निर्गुण-निराकार चौथा पाद है भाव यह है कि जिस प्रकार तीन मात्राओं की पहले बताये हुए तीन पादों के साथ समता है, उसी प्रकार ओंकार के निराकार स्वरूप की परब्रह्म परमात्मा के निर्गुण निराकार निर्विशेष रूप चौथे पाछ के साथ समता है जो मनुष्य इस प्रकार ओंकार और परब्रह्म परमात्मा को अर्थात् नाम और नामी की एकता के रहस्य को समझकर परब्रह्म परमात्मा को पाने के लिए उनके नाम जप का अवलम्बन लेकर तत्परता से साधना करता है, वह निस्सदेह आत्मा से आत्मा में अर्थात् परात्पर ब्रह्म परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है।[13]

प्रश्नोपनिषद् में ओंकार के विषय में पूछते हुए 'शिबि' के पुत्र सत्काम ने पिप्लाद मुनि से पूछा कि जो साधक मरण पर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है, वह किस को को जाता है[14] उत्तर में महर्षि पिप्लाद कहते हैं कि सत्काम।

यह जो ॐ है, वह अपने लक्ष्यभूत परब्रह्म परमेश्वर से भिन्न नहीं है इसलिए यही परब्रह्म है और यही उन परब्रह्म से प्रकट हुआ उनका विराट स्वरूप अपर ब्रह्म भी है। केवल इसी एक ओंकार का जप, स्मरण और चिन्तन करके उसके द्वारा अपने इष्ट को चाहने वाला विज्ञानसम्पन्न मनुष्य उसे पा लेता है। भाव यह है कि जो मनुष्य परमेश्वर के विराट स्वरूप इस जगत् के ऐश्वर्यमय किसी भी अंग को प्राप्त करने की इच्छा से ओंकार की उपासना करता है वह अपनी भावना के अनुसार विराटस्वरूप परमेश्वर के किसी एक अंग को प्राप्त करता है और जो इसके अन्तर्यामी आत्मा पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम को लक्ष्य बनाकर उनको पाने के लिए निष्काम भाव से इसकी उपासना करता है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तम का पा लेता है अर्थात् ॐ परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य यह सब ओंकार से बोधित होता है। इसलिए केवल एक ही ओंकार के आलम्बन से दोनों ब्रह्मों की प्राप्ति होती है।[15]

पिप्लाद मुनि सत्यकाम से कहते हैं कि साधक यदि मरते समय ओंकार की अकार रूप प्रथम मात्रा का ध्यान करता है तो वह उससे ज्ञान प्राप्त करके जगत् में जन्म लेकर मनुष्य लोक अर्थात् पृथ्वी लोक में आ जाता है ॐकार की पहली मात्रा ऋग्वेदस्वरूपा है, उसका पृथ्वीलोक से सम्बन्ध है। अतः उसके चिन्तन से साधक को ऋग्वेद की ऋचाएँ पुनः मनुष्य शरीर में प्रविष्ट करा देती हैं। वह उस नवीन मनुष्य जन्म में तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न उत्तम आचरों वाला श्रेष्ठ मनुष्य बनकर अतिशय ऐश्वर्य का उपभोग करता है, अर्थात् उसे नीची योनियों में नहीं भटकना पड़ता है। वह मरने के बाद मनुष्य होकर पुनः शुभ कर्म करने में समर्थ हो जाता है और वहाँ नाना प्रकार के सुखों का उपभोग करता है।[16]

इसके पश्चात् कोई ओंकार की द्विमात्रा का ध्या करता है। 'अ-उ' इन दोनों मात्राओं का जो ध्यान करता है, तो वह मनोमय चन्द्रलोक को प्राप्त होता है। उसको यजुर्वेद के मन्त्र अन्तरिक्ष में ऊपर की ओर चन्द्रलोक में पहुँचा देता है। चन्द्रलोक में नाना प्रकार के ऐश्वर्य का उपभोग करके पुनः जन्म लेकर लौट आता है।[17]

इन दोनों के पश्चात् यदि कोई ओकार के तीनों अ-उ-म इनकी उपासना करता है, वह परम श्रेष्ठ पुरुष का ध्यान करता है। वह तेजोमय सूर्य लोक में पहुँच जाता है और पाप से मुक्त हो जाता है अर्थात् निर्मल हो जाता है। जिस तरह साँप केंचुली से छूट जाता है, उसी प्रकार वह सब कर्म बन्धनों से छूटकर सर्वथा निर्विकार हो जाता है। यहाँ इस साधक को सामवेद के मन्त्र ऊपर उठाते हैं और तेजाममय सूर्यमण्डल में से ले जाकर सर्वोपरि ब्रह्मलोक में पहुँचा देते हैं। किसी तरह का पाप, क्लेश, दुःख, देष मल कुछ भी इसके पास नहीं रहता। वह परम पवित्र बन जाता है।[18]

तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा गया है कि ॐ परब्रह्म परमात्मा का नाम होने से साक्षात् ब्रह्म ही है, क्योंकि भगवान् का नाम भी भगवत्स्वरूप ही होता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला समस्त जगत् 'ॐ' अर्थात् उस ब्रह्म का स्थूलरूप है। 'ॐ' यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदन का सूचक है अर्थात् जब किसी का अनुमोदन करना होता है तब श्रेष्ठ पुरुष परमेश्वर के नामस्वरूप इस ओंकार का उच्चारण करके संकेत से उसका अनुमोदन कर दिया करते हैं दूसरे व्यर्थ शब्द नहीं बोलते यह बात प्रसिद्ध है जब शिष्य अपने गुरु से तथा श्रोता किसी व्याख्यानदाता से उपदेश सुनाने के लिए प्रार्थना करता है, तब गुरु और वक्ता भी ॐ इस प्रकार कहकर ही उपदेश सुनाना आरम्भ करते हैं।

सामवेद का गान करने वाले भी 'ॐ' इस प्रकार पहले परेश्वर के नाम का भली-भाँति गान करके उसके बाद सामवेद का गान किया करते हैं। यज्ञकर्म में कर्म करने वाले शास्ता नाम ऋत्विक 'ओम् शोम' इस प्रकार कहकर ही शास्त्रों का अर्थात् तद्विषयक मन्त्रों का पाठ करते हैं। यज्ञकर्म कराने वाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक भी 'ॐ' इस

परमेश्वर के नाम का उच्चारण करके ही प्रतिगर मन्त्र का उच्चारण करता है। ब्रह्म (चौथा ऋत्विक) भी 'ॐ' इस प्रकार परमात्मा के नाम उच्चारण करके यज्ञकर्म करने के लिये अनुमति देता है तथा 'ॐ' ज्यों कहकर ही अग्निहोत्र करने की आज्ञा देता है। अध्ययन करने के लिये उद्यत ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी 'ॐ' इस प्रकार परमेश्वर के नाम का पहले उच्चारण करके कहता है कि मैं वेद को भली प्रकार पढ़ सकूँ अर्थात् ओंकार जिसका नाम है, उस परमेश्वर से ओंकार के उच्चारण पूर्वक यह प्रार्थना करता है कि मैं वेदका-वैदिक ज्ञान को प्राप्त कर लूँ ऐसी बुद्धि दीजिये इसके फलस्वरूप वह वेद को निःसंदेह प्राप्त कर लेता है।[19]

ओंकार की तीन मात्राएँ हैं उनके फल भी विलक्षण हैं इनका पृथक्-पृथक् प्रथम प्रयोग करने से दुःख प्राप्त होता है, परन्तु मिलकर सम्यक् प्रयोग बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं में करने से अर्थात् पृथग्भाव रहित प्रयोग करने से मनुष्य दुःख से मुक्त हो जाता है उसको भय प्राप्ति नहीं होता। अ-उ-म ये तीन ओंकार के अन्तर्गत अक्षर हैं और इनमें ऋग्वे-सामवेद-यजुर्वेद का बोध होता है। कहने का तात्पय यह है कि इन तीनों का सम्यक् प्रयोग करके लाभ उठाना चाहिए। अतः ओंकार का उच्चारण करने वाला साधक अपनी इच्छा से कह सकता है कि मैं ब्रह्म को प्राप्त करूँगा और ओंकार से वह ब्रह्म को प्राप्त भी कर सकता है, क्योंकि ओंकार ही ब्रह्म है, जो साधक ओंकार का उच्चारण करता है, उसे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति अवश्य होती है और कर्मबन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

सहायक संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. ओमिति ब्रह्म। ओमितीद ँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्हस्मवा अप्यो श्रावयेत्या-श्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति ओ ँ शोमिति। शस्त्राणि श ँ सन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्म प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपापनवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति। -तै० उप०, अनु० 8, मं० 1
2. ओमित्येतक्षरमिद ँ सर्वतस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एवयच्चान्यत् त्रिकालातीं तदप्योङ्कार एव। - मा०उप०, मं० 1
3. सर्व ँ ह्येतद ब्रह्मयमात्मा ब्रह्मा सोऽय चतुष्पात। -तदेव, मं, 2
4. जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। -तदेव, मं० 3
5. स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसोद्वितीयः पाद। -तदेव, मं० 4
6. यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानधन एवानन्दमयो ह्यानन्दमयो ह्यानन्दभुक्येतोमुखः प्राज्ञस्तृतीय पादः। -तदेव, मं० 5
7. एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययो हि भूतानाम। -तदेव, मं० 6
8. नान्तः प्रज्ञं बहिष्प्रज्ञं नीभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यमव्य- पदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। -तदेव, मं० 7
9. सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति। -तदेव, मं० 8
10. जागरितस्यानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नेति ह वै सर्वान्कामानादिश्व भवति य एवं वेद। -तदेव, मं० 9
11. स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रवित्कुले भवति च एवं वेद। -तदेव, मं० 10
12. सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमीतिश्च भवति च एवं वेद। -तदेव, मं० 11
13. अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रवपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽमानं य एवं वेद य एवं वेद। -तदेव, मं० 12
14. अय हैन शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव से तेन लोक जयतीति। -प्र० उप०, प्र० 5, मं० 1
15. तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः तस्माद्विद्वाने तेनैवायतनेनैकतरमन्वेति। -तदेव, मं० 2
16. स यद्येकमात्रमभिध्यातीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यतेतमृची मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमभुभवति। -तदेव, मं० 3
17. अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते। -तदेव, मं० 4

18. यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोनित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यातीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै सा पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीववघनात परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। –तदेव, मं॰ 5

19. ओमिति ब्रह्म। ओमितीद ँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओँ शेमिति। शस्त्राणि श ँ सन्ति, ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्षयन्नाह ब्रह्योपाप्वानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति। –तै॰ उप॰, अनु॰ 8, मं॰ 1

वैदिक साहित्य में समाज कल्याण

डॉ कमल किशोर,
जम्मू

आज समाज में तमस् का प्राधान्य है। इसी तामासिक ज्ञान के कारण विश्व शान्ति विनष्ट होती जा रही है। कहीं धर्म के नाम पर तो कहीं वर्ण, जाति, लिंग, भाषा एवं संस्कृति के आधार पर हिंसा तथा प्रतिहिंसा हो रही है। इस समय भारत हो या श्रीलंका, रूस तथा कोई अन्य राष्ट्र, किसी न किसी रूप में वहां जब हिंसा हो रही है। मनुष्य हिंसक पशुवत् मनुष्य को ही मार रहा है। इन्सानियत पर शैतानियत हावी होती जा रही है।

अतः आज मनुष्य में मनुष्यत्व को जागृत करने के लिए वेद रूपी मशाल को प्रदीप्त करने की परम आवश्कता है, तभी तो हमारे समाज का कल्याण हो पायेगा एवं विश्व शान्ति की प्रतिष्ठा भी तभी सम्भव है, क्योंकि हमारा भारत एक विशाल देश है। इसमें अनेक प्रकार के धर्म, भाषा और आचार–व्यवहार को अपनाने वाले जन–समूह रहते हैं। इन सभी धर्मों, भाषाओं आचार–विचारों के अलग–अलग होते हुए भी हम सब भारतीय समाज की रचना करते हैं। इसका कारण हमारी राष्ट्रीयता है। हम सभी लोग थोड़ा बहुत त्याग करते हुए परस्पर उपकार–परायण तथा एक दूसरे की भावनाओं का आदर करते हुए समन्वयात्मकता का रूप ले लेते हैं। यही समन्वयात्मकता समाज का रूप ले लेती है। पूरे भारत के सम्बन्ध में जब विद्वानों में विचार मन्थन हुआ तो उनका एकमात्र सन्देश यही था कि यही समन्वयात्मकता तथा एक ही भारतीय समाज का अस्तित्व है।

आजकल के ढोंगी, लालची, स्वार्थी और मन्दिर–मस्जिद के नाम पर धर्म–जाति सम्प्रदाय आदि के नाम पर दंगा–फसाद कर कराकर अपना उल्लू सीधा करने वाले बनावटी साधु–सन्तों की कमी नहीं है। ऐसे ही आत्म–प्रदर्शन, झूठी विद्वता प्रदर्शन से वास्तविकता विलीन हो जाती हैं, सच्चाई अदृश्य हो जाती है, क्योंकि सच्चे दिव्य ग्रन्थ पढ़कर समझ सकने की क्षमता तो पाखण्डियों में होती ही नहीं,। अतः वे दिव्य ग्रन्थ धरे के धरे रह जाते हैं और धीरे–धीरे विलीन हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है –

"जिमि पाखंड विवाद तें, लुप्त होत सद्ग्रंथ।"

अतः आज आध्यात्मिक विषय का सच्चा और वास्तविक ज्ञानस्वरूप वेदों की सुरक्षा हर प्रकार के शुभ और सराहनीय प्रयासों से करना नितांत आवश्यक है।

अथर्ववेद का यह सर्वप्रिय मन्त्र है :–

मा नः सेना अररुषी रूप
गुर्विषूचीरिन्द्र द्रहो वि नाशाय।[1]

अर्थात् हे प्रभु! हमें दोस्त, दुश्मन, जान, पहचान और अनजान लोगों से डर न हो, रात अर्थात् रात के अंधेरे में होने वाले किसी भी कुकर्म या कुकर्मियों से डर न हो। सारा संसार और संसार के सारे प्राणी हमारे मित्र हों।

वेद के उक्त मंत्र के अनुसार यदि हम वास्तव में चाहते हैं कि सारा संसार हमारा मित्र हो, वो सिर्फ चाहने मात्र से ही यह मित्रता संभव नहीं है। इसके लिए हमें कुछ चिंतन करना होगा, कुछ कार्यवाही करनी होगी, ताकि हमारी मित्रता संसार भर के लोगों में कायम हो सके। उसी चिंतन के अनुसार हमारा आचरण और व्यवहार भी होना बहुत ज़रूरी है, नहीं तो हम एक जगह बैठे–बैठे सिर्फ चिंतन के अनुसार हमारा आचरण और व्यवहार भी होना बहुत ज़रूरी है, नहीं तो हम एक जगह बैठे–बैठे सिर्फ चिंतन ही करते रहें तो देखते ही देखते चिता तक पहुँच जाएँगे और हमारी मित्रता सिर्फ चिंतन का विषय मात्र ही बनी रहेगी। अतः सबसे पहले तो हमें यह चिन्तन करना होगा कि हम कौन सा ऐसा सर्वहितकारी कर्त्तव्य करें कि सारा संसार हमारा मित्र ही बना रहे। हमारे वेदों ने इस संदर्भ में विशेष रूप से मार्ग दर्शन किया है। क्योंकि चिंतन का आधार ही हमारे ग्रंथ है, निराधार चिंतन निरर्थक ही होगा, विश्वबन्धुत्व कायम रखने के लिए वेदों ने सर्वोत्तम कर्त्तव्य जो बताया है उस पर किसी भी देश के लोगों को, किसी भी धर्म–जाति या सम्प्रदाय के लोगों को मेरे विचार से कोई एतराज़ नहीं होगा।

हज़ारों साल से वेदों के अध्ययन और शिक्षा ने मानवजाति की भलाई की है और आज भी यह मानवमात्र का मार्गदर्शक है। वेद मानवमात्र के लिए है सारी दुनिया ने वेदों की हानशीलता स्वीकार की है। ज़िंदगी का कोई पहलू ऐसा नहीं है जिसमें वेदों ने मानव का मार्गदर्शन न किया हो। विशेष रूप से सार्वभौमिक सद्भावना के लिए ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सौ 191 सूक्त के दूसरे मंत्र में प्रभु संदेश है कि :–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनासि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।[2]

हे मानव! मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन में एक ही तरह के समान विचा हो, जिस तरह पहले ज़माने के समझदार लोग समान विचारों वाले होकर अपनी ज़िम्मेदारियों का हिस्सा स्वीकार करते थे। इस मंत्र का शाब्दिक अर्थ जान लेने में ही वेदों का मतलब पूरा नहीं हो जाता, उसके प्रति विशेष चिंतन किया जाए। यह मंत्र वास्तव में सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए प्रेरित कर रहा है, इसी प्रेरणा से मेरा विश्वास है कि विश्व भर में अमन–चैन की ज़िंदगी सबको मिल सकती है, सबको समान रूप से जीने का अवसर मिल सकता है। यह तभी संभव होगा, जब एक ही लक्ष्य साधना सबका समान होगा।

वेदों ने सबको निर्देश दिया है कि हे मानव! तुम सब लोग मिलजुलकर बोलो तो यह बोलो,

मनो में तर्पयत वाचं में तर्पयत, प्राणं में तर्पयत,
श्रोतं में तर्पयत आत्मानं में तर्पयत,

प्रजा में तर्पयत पशून में तर्पयत,
गणान् में तर्पयत गणा में मा वितृषन्[3]

वैदिक व्यक्ति अपने बारे में, अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के बारे में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज के कल्याण की कामना करता था। यजुर्वेद में मानवता का सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है –

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।[4]

अर्थात् मैं मनुष्य क्या, सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं।

यह संयार सुखदुःखात्मक है। **"चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भास्यपंक्ति"** के अनुसार मानव जीवन में कभी सुख होता है तो कभी दुःख। दुःख की कोई कामना नहीं करता, परन्तु फिर भी व्यक्ति को दुःख भोगना पड़ता है। इस दुःख का निदान कैसे हो? इसका एक ही उपाय है कि व्यकित व्यष्टि की भावना का त्याग करके समष्टि में विश्वास तथा श्रद्धा रखे; मैं, मैं को छोड़े – व्यष्टि की भावना का त्याग कर सम्पूर्ण समाज में शान्ति और सत्धर्म की स्थापना होने पर मनुष्य मनुष्य को बन्धुत्व की भावना से देखेगा। वेदों में वर्णित यज्ञ–प्रक्रिया में 'स्वाहा', स्वार्थस्य सर्वथा त्याग, अर्थात् यह मेरा नहीं है; देवताओं को जो मैं अर्पण कर रहा हूँ, वह उन्हीं का है। इस भावना को बलबती बनाकर अपने–पराये की भावना को समाप्त करने का प्रयास किया गया हैं अपने–पराय का भेद तो संकुचित मनोवृत्ति वाले लोग करते हैं; उदार मनोवृत्ति वाले लोग तो सम्पूर्ण विश्व को ही एक परिवार मानते हैं एवं तदनुकूल आचरण भी करते हैं –

अयं निजः परो वेत्ति लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।[5]

सम्पूर्ण विश्व के प्राणी एक ही परमात्मा द्वारा बनाते हुए हैं। तब फिर मानव, मानव में भेद क्यों? इस भेद के समाप्त हो जाने पर किसी भी प्रकार के मोह, शोक, घृणा या द्वेष का कोई स्थान नहीं रहता, जैसा यजुर्वेद में कहा गया है –

"यस्तु सर्वाणि..............एकत्वमनुपश्यतः ।"[6]

ऋग्वेद, यजुर्वेद की भाँति अथर्ववेद में भी सामाजिकता का पूर्ण निर्वाह हुआ है। पारिवारिक प्रेम व सौहार्द्र की भावना अथर्ववेद में परिस्फुटित होती है –

सह्रदय सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिर्ध्यत वत्सं जातमिवाघ्नवा ।।
अनुव्रतः पितुः .... शन्तिवम् ।[7]

समानता तथा सामाजिकता के साथ–साथ वेदों में आदर्श दाम्पत्य जीवन की मनोरमता भी दिखाई देता है। विवाह के समय वर–वधु से कहता है –

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।[8]

वैदिक साहित्य की इस प्रकार की भावनाएँ अगर किसी व्यक्ति के ह्रदय में घर जाएं तो दाम्पत्य जीवन भी खुशियों से भर सकता है।

सचमुच हम देखे हैं कि दुनिया में जितनी भी कुदरती चीज़ें हैं, सबके सब एक नियम और विधि के अधीन अनुशासित ढंग से कार्य कर रही है। उस प्रबल विश्व शासक के बनाए गए नियमों के अधीन बड़े से बड़े ग्रहों से लेकर पृथ्वी का एक छोटे से छोटा कण तक बड़ी ही निष्ठापूर्वक कार्य कर रहे हैं। यदि मनुष्य की तरह यह सब भी तनिक भी पथभ्रष्ट हो जाएं तो तत्काल ही महाप्रलय हो जाए। इनमें से सिर्फ सूरज ही अपना नियत पथ छोड़कर तनिक भी नीचे आ जाए वो सारी पृथिवी कुल्फी जम जाएगी। मज़े की बात तो यह है कि इनके नियत नियमों में कोई किसी का हस्तक्षेप नहीं करता। इसी निष्ठा के कारण इन प्राकृतिक चीज़ों को वेदों ने देव की संज्ञा दी है। उक्त मंत्र में इन्हीं देवों की निष्ठा और ज़िम्मेदारी की ओर संकेत किया गया है, **"देवा भामं यथा पूर्वे संजानाना उपासते"** अर्थात् जिस तरह देवतागण अपने कार्यों का निर्वाह करते हैं; ठीक उसी तरह आप लोग भी अपनी–अपनी ज़िम्मेदारियों का निर्वाह करें और ऐसे ही भले कार्यों के प्रति आपस में प्रतिस्पर्धा करें। तुम सबके मन में बस एक ही संकल्प हो, एक दूसरे का कल्याण यही सम्पूर्ण विश्व अमन चैन शांति स्थापना का सर्वोत्तम साधन है। यह तभी संभव है जब पूरी आस्था और विश्वास के साथ ऋग्वेद के निम्न मंत्रों को सदा ध्यान में रखा जाएगा, वे मन्त्र हैं :–

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभाग्य।[9]

आगे कहा गया है :–

समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे[10]

सभी चलने वालों का मार्ग पर समान अधिकार है।

अथर्ववेद ने यह आदेश किया –

प्रियं सर्वस्य पश्यत उद शूद्र उतार्ये[11]

समान रूप से सभी लोग सबका कल्याण देखें, सोचें और करें। चाहे शूद्र हो या अर्ण्य हो।

जन–जन में इसी तरह की लोक हितकारी भावनाएँ जागृत होंगी तब कहीं जाकर इस आदेश का अनुपालन समझा जा सकता है सभी के मन एक जैसे हों। यही बात ऋग्वेद में कही गई है –

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः[12]

मानव मात्र का यह चिंतन होना चाहिए कि मनुष्य से मनुष्य का हर तरह से रक्षा और सहायता होती रहे।

अथर्ववेद में भी यही कहा गया है –

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः[13]

अर्थात् हे मानव! आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें – जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो।

इंसान एक सामाजिक प्राणी है, उसका संबंध समाज से ही है, क्योंकि वह समाज का अहम हिस्सा है और उसको यही मानकर चलना होगा कि उसके मेलमिलाप और एकता से ही समाज में शक्ति संभव है। वेद मंत्रों ने हमें स्वस्थ और खुशहाल जीवन की अभिलाषा की गई है। निरंतर विकास करते रहने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए ईश्वर और बुद्धि की प्राप्ति के लिए भी है। इस बात पर ज़ोर देकर इच्छा व्यक्त की गई है कि हम सभी ऐसा काम करें; जिससे हमारा विकास रुक जाए या फिर

हमारा पतन हो जाए, जिससे हमारी शक्ति तबाह और बरबाद हो जाए।

सत्येनोत्त .... अधिश्रितः।[14]

सत्य से ही पृथिवी रुकी हुई है, सूर्य से स्वर्गलोक रुका हुआ है, सोम की विशेषता से भरपूर परमात्मा द्यूलोक में विद्यमान है। इससे स्पष्ट होता है कि संसार का आधार सत्य ही है।

सत्य की बदौलत इस सृष्टि का संचालन हो रहा है। यही मानव विश्वास का आधार है। यह सत्य ही भरोसा और प्रेम का बीज है।

देवता कर्म यज्ञ करने वाले कर्मठ व्यक्ति को ही पसंद करते हैं। निकम्मे लोगों को नहीं। पुरुषार्थ से युक्त व्यक्ति ही आनन्द प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थी की मदद खुद परमेश्वर करता है, काहिल को न दुनिया पसंद करती है और न ही ईश्वर। क्योंकि कर्मठ और पुरुषार्थी व्यक्ति परोपकार कर सकता है, अपना और अपने राष्ट्र का भला कर सकता है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुवा
यद् भद्रं तन्नऽआ सुव।[15]

इस प्रकार हे देव हमारी ज़िंदगी मिठास से भरपूर हो। आप अपने प्रभाव से पूरी तरह हमारी ज़िंदगी को मिठास से भरपूर कर दे। क्योंकि मिठास ही प्रेम, लगाव, भलाई और दानशीलता की बुनियाद है। इसी से हर काम में माधुर्य पैदा होता रहेगा।[16]

यजुर्वेद के अध्याय 36 का मंत्र संख्या 3 यानि गायत्री मंत्र में यह प्रार्थना की गई है।

सच्चिदानंद स्वरूप, संसार को पैदा करने वाले, परमेश्वर के ज्योतिर्मय तेज का हम ध्यान करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी सत्यनिश्चयी बुद्धि को सही दिशा की ओर प्रेरित करें।

बुद्धि की पवित्रता से और किसी अप्रायपकार की कामना से किया गया सत्कर्म सुख और शांति करने वाले और उसे सुरक्षित रखने वाले मंत्र को ही गायत्री मंत्र कहा जाता है। इस नियम पर आबद्ध रहने से प्राण शक्ति प्राप्त होती है। इस मंत्र को सावित्री ऋक् कहते है।

वेदों का अध्ययन एक साहित्यिक अध्ययन वही है बल्कि यह एक आध्यात्मिक खोज है। इस खोज तक वही जा सकता है जो आध्यात्मिक मान–मर्यादा को जानता है। कोई भी सांसारिक समस्या ऐसी नहीं है। आवश्यकता है सिर्फ खोज की जो सिर्फ दिमाग से ही संभव नहीं, बल्कि आत्मा की गहराइयों को खोजना होगा।

वेदों का इन सच्चाइयों का संदेश मानव मात्र के लिए है। समाज के लिए, विश्व के लिए हो। इन विचारों की प्रस्तुति जर्मन विचारक प्रो. मैक्समूलर ने इन शब्दों में की है –

मानव–मर्यादा को समझ पाने के लिए वेद से बढ़कर दुनिया का कोई भी दस्तावेज नहीं है,

धार्मिक विकास और आत्म संतुष्टि के लिए वेदों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

वेदों में प्रतिपादित नारीशक्ति – एक विवेचन

डॉ० विजेन्द्र कुमार
प्रवक्ता–संस्कृत,
राजकीय कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय,
मीराँ साहिब, जम्मू

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ रत्न एवं ज्ञान–विज्ञान के विपुल भण्डार हैं। ये भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत भी हैं। यह ज्ञान ऋचाओं अथवा मन्त्रों द्वारा अभिव्यक्त हुआ। ज्ञान की यह अभिव्यक्ति ऋषियों तथा ऋषिकाओं के माध्यम से हुई। 'वेदों में नारीशक्ति' विषय पर अपना मन्तव्य प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम यहाँ उन नारियों अथवा ऋषिकाओं की चर्चा की जा रही है जिनकी स्तुति ऋषियों ने की हैं उषा, रात्रि, सूर्या आदि उसी वर्ग की नारियाँ हैं। न केवल पृथ्वी का अपितु ब्रह्माण्ड का कण–कण भी स्पन्दनशील है, गतिशील है, व प्राणवान है। उपर्युक्त नारियाँ मात्र प्रकृति का मानवीकरण रूप ही नहीं है किन्तु इनके गान से इनके स्तौता ऋषि बने और हमारे ऋषिजनों ने इनके साक्षात् दर्शन किए हैं।

उषा प्रातः काल की अधिष्ठात्री देवी हैं इसलिए ब्रह्मवेला को उषा काल कहा जाता है। ऋग्वेद के लगभग 200 सूक्तों में उषादेवी की स्तुति तथा उसके स्वरूप का वर्णन है। उषा के लिए सम्बोधित सूक्तों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने उनके प्राकृतिक स्वरूप की उपेक्षा नहीं की। इसलिए काव्य की दृष्टि से अन्य देवताओं की अपेक्षा उषा के सूक्तों में अधिक रोचकता है। उषा एक नर्तकी के समान प्रकाशमय वस्त्रों में सज्जित होकर अपने रूप को प्रस्तुत करती है।[1] वे अपने वक्षःस्थल को अनावष्त कर अन्धकार को दूर करती हुई, प्रकाश को लाती हैं[2] वे नित्य नूतना होकर भी पुरातनी है।[3] उनके आगमन से सम्पूर्ण प्राणियों में जीवन का संचार होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी सभी को अपने–अपने कार्यों में लगाती है। वे सब की जीवनी शक्ति है। उषा सब के मार्ग को प्रकाशित करती है।[4] उषा चमकीले सुसज्जित वेगवान् रथ पर चलती है उनके एक सौ रथों पर चढ़कर आने का उल्लेख है।[5]

उषा अपने निर्धारित नियमों का पालन करती है। वे प्रातः देवोपासकों को जगाकर उन्हें अग्निहोत्र कर्म में प्रेरित करती है। वे देवताओं को सोमपान के लिए बुलाती है। उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे सूर्य के मार्ग को खोलती है। उषा सूर्य की पत्नी है।[6] इसके आने से सभी प्राणी अपने–अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। याचक यज्ञ आरम्भ कर देते हैं। जो इनके प्रकाश का सेवन करते हैं, वे सदैव नीरोगी रहते हैं क्योंकि इनको वैद्य वाचस्पति सूर्य की माता भी कहा गया है।[7] उषा का सम्बन्ध आदित्य, वरुण, अग्नि तथा अश्विन् के साथ भी है। उषा के लिए मघोनी, विश्ववारा, सुभगा, रेवती आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। उषा से प्रार्थना–प्रकाश, धन, पुत्र तथा दीर्घायु के लिए की जाती है।[8]

अतः विदेह राज महाराजा जनक ने भी तीनों लोकों के लिए मंगलदायिनी और जगदवन्दनीय उषा देवी के तुल्य नारीशक्ति रूप भगवती अरुन्धती को अभिनन्दन करते हुए कहा –

ययापूतंमन्योनिधिरपि पवित्रस्यमहसः
पतिस्तेपूर्वेशामपि खलु गुरुणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमंगल्यामवनितलनीनेनं [illegible]रसा
जगद्वन्द्यां देवीमुशसमिव वन्दे भगवतीम्।।[9]

'रात्रि' उषा की बहन है। ये उषा के आने तक सितारों जटित ओढ़नी ओढ़े विपुल संपदा की रक्षा करती है। नक्तोषस् काल में उषा धीरे–धीरे इनके काले वस्त्र को हटाती है।[10] संपदा पूर्णपात्र का मुख पष्थ्वी की ओर है। इससे सतत् वर्षण होता है, जो चाहे जितना लूट ले। कुछ लोग उषा को रात्रि का विनाशक मानते हैं, जो उचित नहीं है। उषा से अभिप्राय है – 'ओससि नाशयत्यन्धकारम्'। अतः यह अन्धकार का नाश करती है, न कि रात्रि का। रात्रि और अन्धकार पर्यायवाची नहीं है। अन्धेरा तो रात्रि का प्रतियोगी है। भला जहाँ ज्ञान का प्रकाश हो,[11] वहाँ अंधेरा कैसे ठहर सकता है। अतः उषा की समानता रोम की 'अरोरा' तथा ग्रीक की 'एओस' से की जाती है।

'रात्रि' ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 127वें अनुवाक के मन्त्रों की द्रष्ट्री है। ये इन मन्त्रों की देवता भी है और ऋषिका भी है। नक्षत्रगण इनके नेत्र हैं। इनसे प्राणियों की रक्षा करती है। प्रातः नक्तोषस् काल में याजक इसलिए भी यजन करते हैं कि वे इन दोनों बहनों की एकत्र स्तुति कर सकें। अग्नि की ज्वालाओं में भी हम इन दोनों के संयुक्त रूप को देख सकते हैं। ऋग्वेद के दशममण्डल[12] की देवता उषानक्ता है। अथर्ववेद के 19वें काण्ड के सूक्त 47 से 50 तक के मन्त्रों में गोपथ महर्षि ने रात्रि का गुणगान किया है। यह श्यामा रात्रि ही तेजस्वी सूर्य की माता है। प्रसव के पष्चात् उषा के आश्रम में इसे छोड़कर रात्रि आकाश मार्ग में विलीन हो जाती है। रात्रि और उषा का क्रमशः विलीन होना अपने–अपने पथ पर अग्रसर रहने का द्योतक है। सांयकाल होने पर रात्रि पुनः अपने पुत्र को अपने आँचल की छाया से ले लेती है।[13] ताकि वह भी कुछ समय विश्राम कर सके। प्रकृति की इस निरन्तरता पर ही जगत् की स्थिति है।

'सूर्या' सूर्य पुत्री है। सायण भाष्य के अनुसार ऋग्वेद में उदित होने वाले सूर्य को सविता कहा गया है। सूर्या इन्हीं की पुत्री है। इनका विवाह अश्विनी कुमारों से हुआ। द्यौस पुत्र अश्विनी प्रभाव के जुडवाँ देवता हैं। अथर्ववेद चतुर्दर्श काण्ड के प्रथम सूक्त के 64 मन्त्रों और द्वितीय सूक्त के 75 मन्त्रों में सूर्या के विवाह से गृहस्थ धर्म का सम्पूर्ण सार समादृत है। द्वादश आदित्यों की माता अदिति, सार्वभौम प्रकृति का प्रतिनिधित्व करने वाली अदिति। अदिति ने इन्द्र, मित्रावरुण, अर्यमा, भग, धाता, विधाता, अंशुमान, विवस्वान्, दक्ष, पूषा, पर्यन्य, मार्तंड, विष्णु जैसे तेजस्वी द्वादशपुत्रों को जन्म दिया, किन्तु सूक्त दृष्टि अतिति के ये पुत्र माता की गरिमा को चार चाँद लगाने के लिए तथा ऐक्य का संदेश देने के लिए आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। जहाँ एकता हो, वहाँ नाम का महत्त्व नगण्य हो जाता है। अदिति जहाँ स्वयं सूक्त दृष्टि रही है वहाँ ऋग्वेद की छः मन्त्रों की देवता भी है। उपर्युक्त नारीशक्ति वर्णन में संभवतः

आपको प्रकृति के मानवीकरण की गन्ध आए, तो चलिए उन नारियों के विषय में चर्चा की जाए जिन्होंने इस चराचार जगत में अनेक घात–प्रतिघात सहे हैं तथा संकटों का सामना करते हुए ऋषिकाओं के पद तक पहुँची है। महर्षि शौनक ने मन्त्रद्रष्ट्री नारियों का परिगणन इस प्रकार किया है –

घोशा गोधा वि□ववारा अपालोपनिशन्निशद।
ब्रह्म जाया जुहूर्नाग अगस्त्यस्य स्वसादिति।।
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च परमा रोम□ार्व□ी।
लोपामुद्रा च नद्य□च यमी नारी च भा□वती।।
श्री लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्रिर्सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्यईरिताः।।

'घोषा' बाल्यकाल से ही रुग्ण रहती थी। रुग्ण होते हुए भी ये ब्रह्मसाधना व सरस्वती साधना में लगी रही। शरीर भले ही अस्वस्थ हो मन की दृढ़ता संबल प्रदान करती हैं। यह संभवतः इनकी लग्न का परिणाम था या अश्विनी द्वय की कृपा दृष्टि से रोगमुक्त हुई।[14] ये ऋग्वेद के 10/39 एवं 10/40 सूक्त की द्रष्ट्री हैं। इनका विवाह प्रौढावस्था में हुआ और ये घोष तथा जुहस्त्य घौषेय पुत्रों की माता बनी। ये शस्त्र और शास्त्र दोनों की पक्षपाती रही है। इनके पिता तथा पुत्र महारथी भी रहे हैं और विद्वान् भी। सत्य तो यह है कि इन दृढ़ इच्छाशक्ति के सामने सबलता निर्बलता की दीवार हट जाती है।

अत्रि–पुत्री 'अपाला' भी घोषा की तरह ही रोग ग्रस्त हुई। किन्तु ये विवाहोपरान्त कुष्ट रोग से पीड़ित हुई। इसके पति ने इसका परित्याग कर दिया और ये पुनः पितृ–गृह लौट आईं। यहाँ ये ज्ञान–साधना में लीन हो गई। इन्द्र की कृपा से अर्क के पत्तों से लेपन तथा सोमलता के रस के पान से इनका रोग दूर हुआ। इनका धैर्य, तप, साधना, निष्ठा और ब्रह्मज्ञान युगों–युगों तक नारीशक्ति का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

'ब्रह्मजाया जुहू' का भी इसके पति ने अकारण त्याग किया था। देवों के पुरोहित, बुद्धि एवं वक्तृत्व के स्वामी देव गुरु वृहस्पति द्वारा पवित्रता की मूर्ति, प्रज्ञा की साक्षात् प्रतिमा सी पत्नी का अकारण त्याग, यह बात देवताओं को अविश्वसनीय लगी। उन्होंने सोचा कि पत्नी में उन्हें कोई न कोई तो कुआचरण की झलक अवश्य दिखी होगी। सो वे जुहू की परीक्षा हेतु जा पहुँचे, किन्तु जुहू के चतुर्दिक प्रसरिततेज से स्वयं ही तेजोहत हो गए। वे देवगुरु के समीप गए और उन्हें प्रश्नों के घेरे में घेर लिया। ब्रह्मा की वाणी मूक हो गई। उनके अश्रुधार बह गयी। देवों का अपालम्भ असहय हो गया। उन्होंने अपना अपराध ा स्वीकार किया और शास्त्रोचित प्रायश्चित किया। इधर जुहू ने सोचा कि जब इस काल में भी देवगुरु जैसे ज्ञानवान् पुरुष पत्नी के साथ मन चाहा व्यवहार कर सकता है तो भावी सन्तति नारीशक्ति के प्रति कैसा आचरण करेगी। क्या हम भावी पीढ़ी को पत्नी त्याग जैसा आदर्श ही दे पाएगें।

देव अपने गुरु के साथ क्षमा याचना के लिए जुहू के समीप गए। बृहस्पति बोले – भद्रे, ब्रह्मवादिनि के सम्मानित पद पर आसीन पत्नी का भी त्याग निश्चय ही अक्षम्य अपराध है, तुम जो दण्ड दोगी मैं स्वीकार करूँगा। नारी तो सदा से सहृदय रही है क्योंकि उनका चित व स्वभाव फल से भी कोमल होता है। यही बात नाटककार भवभूति ने भी स्वविरचित उत्तररामचरित में कही है – 'पुरन्ध्रीणां

चितं कुसुमसुकुमारं हि भवति।'[15] अतः देवों के खिन्न मुख और पति के पष्चाताप से द्रवित हो जुहू ने उन्हें अपराध ज्ञान से मुक्त कर दिया।

ऋग्वेद के प्रथम खण्ड के 126वें सूक्त की द्रष्ट्री 'रोमशा' देवगुरु बृहस्पति की पुत्री कही गई है। इनके पति सिन्धुदेश के राजा थे जिन्होंने राजनीति पर सुन्दर बातें कही हैं जबकि रोमशा ने सद्गष्हस्थ में नारी की सुदृढ़ स्थिति की कामना की है। 'सामवेद'[16] के पूर्वार्चिक ऐन्द्र पर्व के तथा उत्तरार्चिक[17] के उत्तरार्ध की ऋषिका 'गोधा' है। इन्होंने ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 134वें सूक्त के मन्त्रों में इन्द्र का स्तुति गान किया है। देवों के राजा इन्द्र की स्तुति के माध्यम से इन्होंने उतम राजा के गुण परिगणित किए हैं।

ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के 28वें सूक्त की द्रष्ट्री हैं – अत्रिगोत्रोत्पन्ना ऋषिका 'विश्ववारा'। इन्होंने अग्नि की स्तुति की है। अग्नि रोगाणुओं को नष्ट कर मनुष्य को स्वस्थ जीवन प्रदान करती है, अतः स्तुत्य है। विश्ववारा ने अपनी दिनचर्या से सिद्ध किया है कि नारीशक्ति भी यज्ञीय कृत्यों की अधि ाकारिणी है। देवताओं के राजा इन्द्र इस विश्व राज्य में क्षत्रिय समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी माता ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 153वें सूक्त की ऋषिका बनी। एक माता अपनी सन्तान में किन गुणों की अपेक्षा करती है – यह इस मन्त्र के अर्थ में वर्णित है – ''माता अपनी सन्तान को मन चाहा रूप देकर उसमें सद्गुणों का बीजारोपण करने में समर्थ है।'' देवराज इन्द्र माता की तरह अपने पुत्रों को अपनी आकांक्षों के अनुकूल ढाला, महाभारत काल में अभिमन्यु ने भी चक्रव्यूह भेदन की शिक्षा अपनी माता के उदर में ही प्राप्त की थी। अतः सन्तति को संस्कार सम्पन्न बनाने का श्रेय मातष्शक्ति को अधि ाक जाता है।

देव–साम्राज्ञी इन्द्र की पत्नी 'इन्द्राणी' पुलोमासुर की पुत्री 'पौलोमी' थी। इसका वास्तविक नाम 'शची' था। ये न कवेल अपने आचरण से इन्द्र की इन्द्राणी बनीं, अपितु इन्द्र ने भी शची पति बन स्वयं को धन्य समझा। आसुरी भाव को त्याग, दैवी गुणों को अपनाना और पुनः इस के मन्त्रों की द्रष्ट्री बनना एक नारीशक्ति के वश की ही बात है। नारीशक्ति परिवार समाज व राष्ट्र की साम्राज्ञी है और वही मानवता का हित साधने में सक्षम है।

आलौकिक सौन्दर्य की साम्राज्ञी स्वर्गलोक की अप्सरा 'उर्वशी' भी मन्त्रद्रष्टी बनी है। एक नष्त्यांगना का ऋषिका पद को प्राप्त करना विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता किन्तु राजा पुरुरवा के साथ इसका प्रेम भौतिकता से ऊपर उठकर अमरत्व को प्राप्त कर चुका था। अप्सरा का उसका सौन्दर्य मन्त्रद्रष्ट्री नारी के सम्मुख धूमिल हो गया था। उर्वशी ने यद्यपि अपने जीवन में अनेक कष्ट भोगे किन्तु कसौटी पर कसने से ही स्वर्ण की परीक्षा होती है। वह श्रेष्ठ अप्सरा तो थी ही साथ ही मानवीय संवेदनाओं ने उसे ऋषिका बना दिया। अतः ज्ञान किसी वर्ग विशेष, अवस्था विशेष की उपज नहीं है। यही बात महाकवि भवभूति ने भी कही है –

ि□ा□ुर्वा ि□ाश्या वा यदसि ममतत्तिशठतु तथा
वि□ुद्धेरुत्कर्शस्त्वयि तु मम भक्तिं दृढयति।
ि□ा□ुत्वं स्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजा स्थानं गुणिशु न च लिङ्गं न च वयः।[18]

अर्थात् तुम मेरी पुत्री हो या शिष्या हो, जो कुछ भी हो, वह सम्बन्ध वैसा ही रहे। किन्तु तुम्हारी पवित्रता की पराकाष्ठा तुम्हारे प्रति मेरी भक्ति को दृढ़ बना रही है। तुम में शिशुत्व हो या स्त्रीत्व, तुम वस्तुतः संसार की पूजनीय हो, क्योंकि गुणवानों में गुण ही पूजा के स्थान होते है अवस्था विशेष व वर्ग विशेष नहीं।

अब बात करते हैं प्रथम नारी दूती देव शुनी 'सरमा' की। जब पणियों ने आंगिरस बृहस्पति की गौओं का अपहरण कर लिया तो 'सरमा' के माध्यम से ही उन्होंने गौएँ प्राप्त की। यद्यपि पणियों का अन्न खाकर वही एकबार लड़खड़ा गई थी किन्तु इन्द्र के प्रति उसकी स्वामी–भक्ति ने उसे ऋषिका का पद प्रदान किया। न केवल सरमा अपितु इसकी सन्तान 'सारमेय' भी सदैव धर्म का प्रतिरूप रहे हैं। महाभारत में भी स्वयं धर्म श्वास रूप धारण कर धर्मराज युधिष्ठिर के साथ स्वर्ग गए थे। सारमेय सदैव मनुष्य के हितैषी रहे हैं। मनुष्यों को भी प्राणिमात्र के प्रति सहृदय रहना चाहिए तभी –''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' की भावना साकार हो पाएगी।

विवस्वान् की यमज संतान थी – 'यम–यमी' ये दोनों भाई–बहिन ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 10 सूक्त के मन्त्रों के ऋषि एवं देवता हैं। अथर्ववेद के अष्टादश काण्ड के प्रथम सूक्त में भी इनका यह संवाद वर्णित है। यम–यमी का यह संवाद मर्यादा का आदर्श है। यम का एक शाब्दिक अर्थ है – आत्म नियंत्रण। यमी 35 संवाद के कुछ मन्त्रों की ऋषिका है तो कुछ की देवता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 154 सूक्त के 1–5 मन्त्रों का प्रणयन 'यमी' ने किया है। कालान्तर में यमी लोक कल्याण हेतु 'यमुना' नामान्तर प्राप्त करके इस भू पर अवतरित हुई। ये सायंकाल को ही, सौरमण्डल के नवम ग्रह के रूप में आकाश मण्डल पर अपने भ्राता यम के दर्शण कर पाती है। किन्तु वातावरण की धूमिलता अब उस से भी इसे वंचित कर रही है। यमुना के जल को भी यहाँ के वासियों ने अपवित्र कर दिया है। यमुना का पवित्र भाव तभी सार्थक हो पाएगा जब हम इसे स्वच्छ रखेंगें क्योंकि स्वच्छता एवं पवित्रता एक दूसरे के पर्याय हैं।

राजकन्याएँ ऋषि की विद्वता पर मुग्ध होकर उनका वरण करती रही हैं। जो ऋषि–पत्नियाँ ऋषिकाएँ बनी, उनमें से 'लोपामुद्रा' अग्रणी है। राजा एवं राजमाताएँ भी अपनी पुत्रियों का विवाह सहर्ष कर, स्वयं को धन्य मानते रहे हैं। क्योंकि नारीशक्ति सधर्मिणी थी उसी के संग में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान वस्तुतः सम्पन्न होता था। इसलिए अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ के अधिकार से वञ्चित था।[19] विद्वत्ता का यह सम्मान आरम्भ से ही हमारी विशेषता रही है। लोपामुद्रा महर्षि अगस्त्य की पत्नी बनी। इस दम्पति ने उत्तर भारत की संस्कृति का प्रसार दक्षिण भारत में कर देश को एक सूत्र में बाँधा। इसके प्रयास से भारतीय संस्कृति का प्रसार सम्पूर्ण भारत वर्ष में भी हुआ।

वचक्नु ऋषि की दुहिता 'गार्गी' बाल्यकाल से ही ब्रह्म–जिज्ञासु रही है। ज्ञान–साधना में लीन हो ये भी ब्रह्मवादिनी विदुषी बनीं। ज्ञानार्जन में ऋषि एवं ऋषिका का भेद नगण्य है। गार्गी की ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को मष्त्यु का भय भी नहीं दवा सका तथा उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। अच्छे शिष्य के सम्मुख सद्गुरु अपनी समस्त ज्ञान गठरी खोल देता है। ऋषि याज्ञवल्क्य की ज्येष्ठा भार्या 'मैत्रेयी' ने भी अपने ब्रह्मनिष्ठपति से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। जब महर्षि ने सन्यस्त होने से पूर्व अपनी दोनों पत्नियों को बुलाकर धन–सम्पत्ति का बँटवारा करने की बात कही, तो मैत्रेयी ने कहा – ऋषिवर! यदि धन सम्पति वसुधा भी मेरी हो जाए तो क्या मैं अमर हो सकती हूँ। ब्रह्मर्षि को नकारात्मक उत्तर

सुन ये बोली – तो कृपया आप मुझे वह उपदेश दें जिससे मैं अमरता को प्राप्त कर सकूँ। ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति अमरता के साधन की व्याख्या की। धन्य है वे नारीशक्ति जिन्होंने त्याग, तप और दृढ़ निश्चय से ध्येय को प्राप्त किया। सामर्थ्यवान् ऋषि कर्दम की पुत्री 'अरुन्धती' भी तप और त्याग की मूर्त्ति रही है। वसिष्ठ ऋषि की पत्नी इस ब्रह्मवादिनी नारी ने अपने तप के तेज के बल से सूर्य का भी अवरुंधन कर अपने नाम को सार्थक किया।

अब हम चर्चा करते हैं भावों की अधिष्ठात्री देवियों की। 'श्रद्धा' ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 151वें सूक्त में मन्त्रों की द्रष्ट्री है। ये मनुष्य के मन में स्थित कामना या अभिलाषा के रूप में है। ये ही कामगोत्रजा कामायनी है। जल–पलावन से बचा हुआ 'मनु' श्रद्धा के संयोग से क्रियाशील होता है। इड़ा जो बुद्धि का प्रतीक है इसकी प्रतिपक्षिणी है। श्रद्धायुक्त मानव ही ज्ञान प्राप्त कर परम श्रेय का अधिकारी बनता है। अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड के 108वें सूक्त के मन्त्रों की देवता हैं – मेधा। ये मन्त्र महर्षि शौनक द्वारा रचित हैं। विना मेधा से कोई भी ऋषि अथवा विद्वान् नहीं बन सकता।

ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 107वें सूक्त की द्रष्ट्री दक्षिणा हैं। ये यज्ञ–पत्नी हैं। दीक्षा इनकी सपत्नी है। कालानुसार इनका स्वरूप बनता बिगड़ता रहा है। यहाँ दान और दक्षिणा के सूक्ष्म अन्तर को भी समझना आवश्यक है। भावना यदि शुद्ध हो तो दान और दक्षिणा का स्व–स्व महत्त्व है। मेधा, श्री और लाक्षा खिलमन्त्रों की ऋषिका एवं देवता है। अखिल का विलोम 'खिल' का प्रयोग प्रक्षिपत सूक्तों के लिए किया जाता है। खिल अर्थात् खण्डित। कुछ विद्वान् इन्हें मान्य नहीं मानते। किन्तु भले ही ये सूक्त मूल संग्रह के बाद में जोड़े गए हैं, इनके संदेश हमारी अमूल्य धरोहर हैं। मेधा का महत्त्व निस्संदिग्ध है। 'श्री' ऋषिका द्वारा रचित ऋग्वेद का 5.91 वां सूक्त आशीर्वादात्मक 'श्रीसूक्त' है। इसका प्रयोजन दुर्भाग्य को दूर भगाना है। वास्तविकता यह है कि 'श्री' की आकांक्षा किसे नहीं है। तामसवृत्ति वाले भले ही कुछ समय के लिए 'श्री' को अधिगत कर लें किन्तु वह धन सम्पति ही उस श्रीमान के विनाश का कारण बनती है।

अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के पाँचवें सूक्त के मन्त्रों की देवता 'लाक्षा' है। ऋग्वेद के एक आत्मदैवत सूक्त की मन्त्र द्रष्टी और देवता ये स्वयं ही हैं। अथर्ववेद में गाए सूक्त के ऋषि अथर्वा हैं। लाक्षा विशिष्ट वक्षों पर झर–झर कर आसीन होती है। इसका बहुविध उपयोग है। जन भाषा के यह कारण कहलाती है। इसकी उपयोगिता को देखते हुए भारत सरकार ने राँची के निकट 'लैक रिसर्च इंस्टीट्यूट' की स्थापना की है। इन प्रयोगों से लगता है कि कहीं इसके औषधीय गुणों की अपेक्षा तो नहीं की जा रही है। बहुत कम लोग यह जानते हैं कि यह औषधि ब्रण को भरती है तथा व्यक्ति का पोषण भी करती है। आज ऐसे वक्षों को लगाने की आवश्यकता है जो हमारी संतति को नवजीवन प्रदान कर सके तभी एक सवल समाज और देश का निर्माण सम्भव होगा।

अभी तक हमने वेदों में प्रतिपादित मन्त्रों की देवता व ऋषिका नारीशक्तियों की चर्चा की। यहाँ यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि ये नारी शक्तियाँ विशिष्ट होते हुए भी सामान्य नारी जाति का ही प्रतिनिधित्व करती है। साहित्य समाज का दर्पण है और समाज के व्यक्ति विशेष द्वारा रचित होता है। अतः स्पष्ट है कि वेदों में प्रतिपादित नारीशक्तियों के ये विविध आयाम तत्कालीन समाज के ही दिग्दर्शन हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

1. ऋग्वेद 10.124.13
2. ऋग्वेद 5.80.56
3. ऋग्वेद 1.92.10
4. ऋग्वेद 6.64.3
5. ऋग्वेद 1.48.7
6. ऋग्वेद 4.5.13
7. ऋग्वेद 7.78.3
8. ऋग्वेद 1.30.22
9. उत्तररामचरित 4.10
10. निरु स्वसारम कृतोषसं देव्यायती।
    अपेदु हासते तमः।। ऋग्वेद 10.127.03
11. ऋग्वेद 4.51.9
12. ऋग्वेद 10.70.6
13. ऋग्वेद 4.51.10
14. ऋग्वेद 7.79.2
15. स राजा तत्सौख्यं स च शिशु जनस्ते च दिवसाः
    स्मष्तावाविर्भूतं त्वयि सुहृदि दृष्टि तदखिलम्।
    विपाके घोरेघस्मिन्न खलुन विमूढा तव सखी
    पुरन्धीणां चित्तं कुसुमसुकारं हि भवति।। उत्तररामचरित 4.12
16. सामवेद पूर्वार्चिक 2.7.2
17. सामवेद उत्तरार्चिक 7.5.8
18. उत्तररामचरित 4.11
19. अयज्ञो वा ह्येष योघ्पत्नीकः। तै० ब्रा० 2.2.2.6

मानवीय जीवन पर योग साधना

डॉ. पीयूष बाला, जम्मू

पूर्व जन्म में किये गये पुण्यों के परिणाम स्वरूप ही मानव जीवन की प्राप्ति होती है अतः हम यह भी कह समते हैं कि जिस किसी प्राणी को मानव जीवन मिला है वह उसके पूर्व में अर्जित किये गये पुण्यों का परिणाम है और वह पुण्य उसे योगसाधना पथ पर चलते हुये मिले होंगे इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। योग साधना हेतु महर्षि पतंली ने जिन अष्टांग साधनों का विवरण दिया है वह यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्यहार, धारणा, ध्यान समाधि रूप में अभिहित मिलते हैं[1] लेकिन

पातञ्जल सूत्र के अनेक टीकाकारों ने प्रसंङ्गनुकूल योगसाधनों को अभ्यास वैराग्य क्रिया योग एवं अष्टांग योग के द्वारा ही स्वीकृत किया है जबकि स्वंय पतञ्जली ने साधन भेद से साधन भेद भी स्वीकार किया है[२] स्वंय महर्षि व्यास ने एवं उनके साथ-साथ भोजदेव[३] तथा वाचस्पति मिश्र आदि ने साधकों की दो श्रेणियाँ मानी हैं। प्रथम वह जो पूर्व जन्म में उपार्जित परिणाम स्वरूप योगारूढ़ होत हैं और दूसरे वह जो विषय वासनाओं से अग्रसर होत हुए भी योग मार्ग से अपनाने के इछुक होते हैं ऐसे इन दूसरे प्रकार के साधकों को आरूरूक्षु की संज्ञा दी जाती है।

प्रथम प्रकार के लिये अभ्यास एवं वैराग्य रूप साधनों को अपनाने की सलाह वाचस्पति मिश्र ने दी है जबकि इस लौकिक जगत में विषय में प्रवृत्त हुए मानव के लिये अष्टांग योग के अतिरिक्त, क्रिया योग इत्यादि का चित्तवाले साधक अभ्यास एवं वैराग्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होते हैं।[४] इस प्रकार सामान्य मानव के लिए सर्वप्रथम अष्टांग योग ही योग-साधना के सोपान माने जाते हैं।

योग के प्रथम पाँच बहिरंग साधनों के माध्यम् से जहाँ मानव शरीर की बाहरी शुचिता को प्राप्त करते हैं, वहीं अन्तिम तीन योगांगो के माध्यम् से आन्तिरिक शुचिता को प्राणायाम एवं आसनों की सहायता से वह स्वास्थ संर्वधन करने के अति रिक्त रोगों से निजात भी प्राप्त कर सकता है। मनुस्मृति में भी वर्णन मिलता है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है क्योंकि इसके माध्यम् से मानव के सम्पूर्ण मल धुल जाते हैं एवं उसमें ज्ञान का उदय भी होता हैं। यथाः-

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातुनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणं दह्यन्ते दोषा प्राणास्य निस्यहाव्।।[५]

प्राणायाम के अतिरिक्त योग-साधना के सोपानों में मानव जीवन के लिए मनुस्मृतिकार यम[६] अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्माचर्य एवं अपरिग्रह[७] तथा नियम से भी मुख्य मानते हैं उनका कहना है कि

यमान् सेषेत सततं न नित्यं नियमान बुधः।
यमान् पतत्य कुर्वाणे नियमान् केवलान् भजन।।[८]

इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्यहार के बाद सामान्य मानव साधक अपने इष्ट (ईश्वर) के प्रति धारणा बनाते हुए उनके चिन्तन में ध्यान लगाने हेतु शान्त का वरण कर क्रमशः समाधि स्थ होता है, जबकि जिन साधकों ने अपने पूर्वजन्म में निरन्तर अभ्यास के द्वारा योग के प्रथम पाँच बहिरंग साधनों को सिद्ध कर लिया हो, उन्हें इस जन्म में यम, नियम आदि साधनों की आवश्कता नहीं पड़ती। क्योंकि गरुड़-पुराण में वर्णन मिलता है कि शिशुपाल को स्मरण के अभ्यास मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति हो गई थी।[९] अतएव उनके लिए अभ्यास एवं वैराग्य रूप साधन का विधान किया गया है।

स्मरणीय है कि अभ्यास एवं वैराग्य दोनो का एक साथ सिद्ध होना चित्त्वृत्ति निरोध के लिए अपेक्षित होता है, दोनों में एक के अनुष्ठान से विशेष कार्य नहीं होता, शायद इसलिए गीता में श्री कृष्ण ने मन निग्रह के लिए दोनों उपायों के वरण का निर्देश मानव जीवन के लिए उनयुक्त समझ है। यथाः-

असंशयं महाबाहो। मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैरागयेण च गृह्यते।।[१०]

अभ्यास वैराग्य एवं अष्टांग योग के अतिरिक्त क्रिया रूप में क्रमशः तीन तत्व अपेक्षित होते हैं तप स्वधाय एवं ईश्वर प्रणिधान।[१२] लैकिक जीवन में सामान्य मानव जहाँ अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य के माध्यम् से मर्यादाओं को समझने की परख संजोता है वहीं वह शोच, संतोष, तप, स्वध्याय, एवं ईश्वर प्रणिधान के माधयम् से मानसिक शान्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है।

विभिन्न आसनों के माध्यम् से जहाँ वह शरीरिक अङ्गों को पुष्ट बना सकता है वही प्राणायाम के माध्यम् से शरीर के प्रमुख तीन अवयवों से वात, पित एवं कफ में साम्यत ला सकता है और कुम्भक की गति को क्रमशः बड़ा करके वह अपना आयुवर्धन भी कर सकात है क्योंकि मानव को जो जीवन विधाता ने दिया है वह श्वास पर ही अवलम्बित है।

प्रत्याहार के माध्यम् से वह अपने मन को स्थिर करने के साथ-साथ भोग-प्रवृत्ति से क्रमशः निजात पा करके धारणा, ध्यान एवं समाधि के माध्यम् से आध्यात्मिक तप पर अग्रसर हो सकता है इस रूप में हम कह सकते हैं कि सामान्य मानव के लिए प्रथम-चार योग के अङ्ग उनके उद्देशय प्राप्ति में सहयोगी बनते हैं जबकि अन्तिम चार यौगिक साधन उनके आध्यात्ममार्ग में प्रवृत्त होने में अपनी भूमिका निभाते हैं विविध ग्रन्थों में योग साधना के सोपान के रूप में अनेकों तथ्यों गिनाये गये है।

यथा अभ्यास[१३] वैराग्य, अपर वैराग्य, यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय वशीकार[१४] पर वैराग्य, स्वध्याय ईश्वर प्रणिधान[१५] एवं अष्टांग योग। जिसमें ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग[१६] अष्टांग[१७] योग दोनों के अर्न्तगत परिगणित किया गया है क्यों कि ईश्वर प्रणिधान के माध्यम् ने मानव में निराभिमानता का संचार होता है निराभिमानता के संचरण से मानव का अन्ताकरण निष्कलमष तो होता है, उसमें अपने ईश्वर के प्रति अटूटआस्था, श्रद्धा एवं विश्वास की भावना दृढीभूत होती है और यही भावना मानव को योग साधाना की चरमपरिणति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराती है।

इस प्रकार मानव जीवन योग साधना के सोपानों में क्रमशः आरूढ़ होकर जहाँ अपनी दैनान्दिनी का सफलतम ढ़ंग से सम्पादन करते का सामर्थ्य अर्जित करता है वहीं मनस्तोष का अनुभव करते हुए मानसिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शान्ति भी प्राप्त उसे होती है इस रूप में योगसाधना के सोपान मानव जीवन के लिए आसीम रूप में हितकारी है।

संदर्भ ग्रन्थ सूचि

१. यमनियमासन प्राणायाम प्रत्यहार धारण समाध्यायोऽष्दावङ्गनि यो०सू० २/१२

२. उादेदष्टः समाहित चितस्य योगः कथं व्युथितचित्तोऽपि योगयुक्तोः स्यात व्या० भा० पृ० १३६

३. तदेव प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थित-चित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूवको योगः स्वास्थ्यमुपाय मुपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनस्य क्रियायोगमह् भो० वृ० १३३

४. अभयास वैराग्ये हि योगोपायौ प्रथमे पाद उक्तौ न च तौ व्युत्थित चित्त्स्य द्रागित्येव सभंवत इति द्धितीयपादोपदेश्यानुपायानपेक्षते सत्त्व शुद्धयर्थम। तत्ववैशारदी पृ० १३६

५. मनुः ६.७१

६. अहिंसास्तेयापरिग्रहाः यया यो० सू० २/३०

७. शौचसंतोष तप स्वाध्यायेष्वरप्रणिधानानि नियम। यो०सू २/३२

८. मनुस्मृति- ४/२०४

९. आसन स्थान विध्यो न योगस्य प्रसाधका शिशुपाल विद्धिभाप स्मरणाभ्यास गौरवात्।। यो०वा० १.३७
१०. न तू वक्ष्यमाणः क्रियायोगो वक्ष्यमापानि योगवहिरङ्गानि-वाऽऽवश्यकानिः अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध इतिसूतात्।। यो०सा०सं०पृ.२२
११. श्री मभागवत् गीता ६/३४
१२. तपः स्वाध्यायेष्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः यो०सू० २/१
१३. तत्र स्थितौ यत्नोभ्यासः।
१४. तथा च रागद्वेषशून्यस्य विषयसाक्षात्कारस्य योग्यतावशीकार संज्ञाख्यां वैराग्यमिति पर्थवसितम्। यो०वा० पृ०-५
१५. ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फल सन्यासो। व्या० भा० पृ० १३६
१६. प्रथमपादोक्तप्रणि धानादि रिक्तमन्न प्रणिधानमाह सर्वक्रियाणामिति यो० वा० १३६
१७. यो० वा० पृ० २४६ पर द्रष्टव्य।

संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण

डॉ० पारस शास्त्री,
संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

प्राचीन वाङ्मय में संस्कृत भाषा विश्व की आदर्श भाषाओं में अपनी विशेषता रखती है। यह अद्विती साहित्य अपने गाम्भीर्य और वैशिष्ट्य दोनों के द्वारा सार्वभौमत्व को प्राप्त किया है। भारत के दीर्घ अतीत पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो यह विदित होता है कि संस्कृत साहित्य एवं संस्कृत विज्ञान की दृष्टि से समग्र विश्व में शीर्ष स्थान पर है। संस्कृत-साहित्य का बहुत बड़ा अंश मानव-जीवन के विज्ञान और कला की व्याख्या करता है। विज्ञान के क्षेत्र में भी संस्कृत आज किसी भी देश की ज्ञान-परम्परा की तुलना में अधिक दूरगामी है। **'चलापृथ्वी स्थिरा भाति'** पृथ्वी गतिशील है, यह सूचना गैलेलियो से कई शताब्दियों पूर्व भारतीय खगोलशास्त्र ने दी थी। संस्कृत भाषा भाषिक क्षमता और भाषिक दक्षता-दोनों दृष्टियों से समर्थ है।

भारत अपनी ज्ञान गरिमा के कारण विश्वगुरु बनकर उपदेष्टा के रूप में सम्मान पाता रहा। कारण? वेद, पुराण और साहित्य की वैश्विक कल्याण की परिकल्पना से परिपूर्ण ज्ञान गरिमा जिस से सम्पूर्ण विश्व चकित रहा और अपलक नयन से देखता रहा भारत की ओर। संस्कृत भाषा सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक धरोहर के लिए अखिल विश्व में मूर्धन्य है एवं विश्व को एक सूत्र में बाँधने के लिए समर्थ है। निःसन्देह यह कह सकते हैं कि साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक समृद्धि के कारण यह भाषा सभी भाषाओं में से श्रेष्ठ है।

आज की विविध वैज्ञानि उपलब्धियों के साम्राज्य में भी संस्कृत भाषा और उसमें लिखे गये वेद, पुराण, उपनिषद और साहित्य के ग्रन्थों की प्रसंगिक उपादेयता अपरिहार्य है। कारण? समस्त वैज्ञानिक चिन्तन के मूल में कहीं न कहीं संस्कृत सिद्धान्तों की परिकल्पना ही परिलक्षत हो रही है।

संस्कृतवाङ्मय में जीवन मूल्यों के साथ-साथ वैज्ञानिक ज्ञान, ज्ञान-गणित, खगोलविज्ञान, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, वनस्पति विज्ञान, आयुर्विज्ञान, अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी, प्राणिविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, कृषिविज्ञान, पर्यावरण एवं सैन्य विज्ञान आदि का उल्लेख प्रचूर मात्रा में प्राप्त होता है जिसकी उपादेयता आज भी सर्वविदित एवं अक्षुण्ण है।

संस्कृत भाषा वैज्ञानिकता तथा शब्दों की उत्पत्ति, धातु, प्रत्ययों, उपसर्गों आदि से सिद्ध की जा सकती है। एक ही धातु से कई शब्द बनते हैं, उदाहरणार्थः पठ धातु को देखें।

विश्व-प्रसिद्ध अमेरिका की 'अन्तरिक्ष संशोधन वैज्ञानिक संस्था' 'नासा' के कम्प्यूटर वैज्ञानिक डॉ रिक ब्रिग्स ने प्रमाणित किया है कि पाणिनीय व्याकरण कम्प्युटर के लिए सर्वोपयोगी है। क्योंकि संस्कृत भाषा एक ऐसी भाषा है जिसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है, जबकि अन्य भाषा-प्रयोग में लेखन और उच्चारण में ज्यादा अंतर होता है, जिस से कम्प्यूटर में विसंग होने की आशंका बढ़ जाती है। कम्प्यूटर में ग्रहण, विश्लेषण, संश्लेषण, शब्द-संख्या के अनुसार अन्य भाषाओं की तुलना में संस्कृत भाषा महत्त्वपूर्ण है।

अत्याधुनिक विकसित तकनीक कम्प्युटर के निर्माण व प्रयोग का पर्याप्त साम्य है। कम्प्युटर के सफल प्रयोग में संस्कृत की उपादेयता पर समीक्षकों व वैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया है और स्पष्ट किया है कि संस्कृत भाषा कम्प्यूटर के लिए नितान्त उपयोगी है। संस्कृत का समृद्ध व वैज्ञानिकता से परिपूर्ण व्याकरण, असंदिग्ध भावाविव्यक्ति तथा न्याय-सिद्ध भाषा कम्प्यूटर के सर्वथा के अनुकूल है। विज्ञानिकों ने इस बात को सिद्ध किया है कि संस्कृत भाषा कम्प्यूटर के क्षेत्र में एक बहुत ही सटीक एवं महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक कम्प्यूर वैज्ञानिक की Natural Language Processing सम्बन्धी अवधारणा मुख्यतः पाणिनीय संस्कृतवयाकरण के सिद्धान्तों पर आधारित है। संस्कृत व्याकरण की सबसे महती विशेषता यह है कि कम्प्यूटर के माध्यम से वाक्य को उल्टा-पुलटा करने पर भी क्रिया, कर्म विशेषण आदि किसी का भी स्थान-परवर्तन करने से वाक्य के अर्थ का अनर्थ नहीं होता। जो कम्प्यूटर के लिए अत्यंत ग्राह्य होन से साधरण जन तक जुड़नें की सम्भावनाओं को पैदा करती है। व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि समस्त शब्दों की उत्पत्ति मूल धातुओं से हुई है।

वैदिक-वाङ्मय में वैज्ञानिक उपलब्धियों का उल्लेख अनुसंधेय है। इस में यन्त्र-विज्ञान, पर्यावरण-विज्ञान, गणित-विज्ञान, ज्योति-र्विज्ञान, रसायन-विज्ञान, वनस्पति-विान, वास्तु-निमान-विज्ञान, वृष्टि-विज्ञान, कृषि-विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थ-विज्ञान, आदि समस्त विज्ञान का वर्णन उपलब्ध है।

'वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्' अर्थात् वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठि है। वेद शब्द ज्ञान का पर्याय है तथा विज्ञान शब्द क्रमबद्ध ज्ञान का वाचक है। इस प्रकार वेद और विज्ञान का संबंध स्वाभविक है। एक प्रख्यात फ्रेंसीसी विद्वान् ने अपने ग्रंथ महान भारत में लिखा है- वर्त्तमान विज्ञान उन्हीं सिद्धान्तों को पुनः प्रस्तुत करता है, जो वेदों में वर्णित है। वेदोक्त वैश्वनर अग्नि(Universal Energy) ही सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाली है। कहा गया है-

वैश्वानरो विश्वकृत्, अथर्ववेद- ६-४७-१
वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनाम्, ऋग्वेद - १-४७-१

अथर्वा नामक ऋषि ने तीन आविष्कार किये। इन्हें विश्व का प्रथम वैज्ञानिक कहा जाता है। उनके तीन आविष्कार हैं- वृक्ष से अग्नि का आविष्कार, जल मन्थन से अग्नि; Hydro Electric Hydel) तथा भूगर्भीय अग्नि-पुराष्य अग्नि(Oil and Natural Gas) इस जगत् को अग्नीषोमात्मक कहा गया है। सोमतत्त्व- ध्लकतवहमद तथा आग्नेयतत्त्व व्गलहमद है। वेद को समस्त ज्ञानविज्ञान का मूल माना जाता **"सर्वज्ञानमयो हि सः"**। अग्नि तत्त्व संसार का सर्वाधिक व्यापक, गतिशील और शक्तिशाली तत्त्व है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति का मूलधार यह अग्नितत्त्व ही है। वेदों में अग्नि का सबसे अधिक वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही 'अग्नि' शब्द से है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही अग्नि का महाविज्ञान निहित है। यजुर्वेद १३-४० में कहा है-

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।
सहस्रदा असि सहस्राय त्वा।। यजु० १३-४०

अर्थात् अग्नि का निवास पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में है। पृथ्वी में अग्निनाम से, अन्तरिक्ष में विद्युत् नाम से और द्युलोक में सूर्य नाम से अग्नि संसार में अनेक सुख प्रदान करती है।

परमाणु प्रकृति का सम्बद्ध एकात्मक अंश(कण) है। यह वैदिक एवं आधुनिक विज्ञान दोनों का मत है। आधुनिक विज्ञान विद्युद् अणुओं के द्वारा विर्मित नाभिक(अणु का केन्द्र बिन्दु) और कोश (शुक्तियाँ) दो भागों में विभाजित होकर परमाणु की संरचना होती है। विद्युत अणुओं के कोश अधिकतम सात अंकों में माने जाते हैं। विद्युत अणुओं की सम्मोहनात्मक संख्या इन कोशों में स्थापित है जिनका संपूर्ण योग १०८ है। ये विद्युद् अणु विभिन्न रासायनिक घेरे में व परमाणु के अन्तर्ग रासायानिक सामा के निर्माण के कारण या हेतु होते हैं।

परमाणु के सूक्ष्मांश के दो भाग हैं । १- घनात्मक २- तटस्थ अनावेशित अंश। जिन को न्यूट्रॉन और प्रोटॉन कहा जाता है। वैदिक विज्ञान के द्वारा तीन भागों में परमाणु कह संरचना विभाजित है- अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव। यह निर्दिष्ट किया जा सकता है भूत की इकाई के अवयव एक परमाणु है। अध्यात्म भाग अधिभूत भाग से आच्छादित है। प्रत्येक भूत कम्पान एवं गति मान स्थिति केन्द्र के अन्तर्भाग में स्थित है। बाह्य आवरण या कवच(अधिदेव) अंश है। इस भाग में अपेक्षाकृत बड़े कण हैं, जिन्हें त्रिवत्मी कहते हैं। जिन के आधुनिक नाम न(न्यूटॉन्र), चिक(प्रोट्रॉन) और इता(इलेक्ट्रॉन) कहा है।

इस अणु का सर्वाधिक बाह्य आवरण होने के कारण यह अणु के समस्त प्रकार के व्यवहार का नियामक होता है। इस अणु में चौदह प्रकार के भूतसर्ग होते हैं। सात लोक- भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। अणु केन्द्र में होता तथा अणु के वैकतिक(इलैक्ट्रॉनिक) भाग में सात घूर्णनपथ स्थित होते हैं। प्रथम पॉच- सत्यं, तपः, जनः, महः, स्वः, अध्यात्म अंश में स्थित होते हैं। अध्यात्म अणु संरचना का सर्वाधिक आन्तरिक और प्रारम्भिक भाग होता है। इसलिए प्रकृति के प्रत्येक अशं में आत्मन् सर्वदा विद्यमान रहाता है । भूलोक अणु का सर्वाधिक घनीभूत कहा जाता है।

अणु एवं अणु के खण्ड आकाश में सहजता से संचरण करते हैं एवं द्रव्य के पाँच प्रकार की सृष्टि करते हैं, जिन्हें वैदिक विज्ञान में पंचम महाभूत कहा जाता है। प्रत्येक अंश या पदार्थ को प्रकृति में जीवित पदार्थ के रूप में माना जाता है जिसका जीवन चक्र की उक निश्चित कालावधि होती है। इसलिए पदार्थ के विघटनाभिक क्षरण का आधा जीवन वैदिक में स्वतः व्याख्यायित है। वैदिक वाङ्मय मे सृष्टि का विज्ञान विशेष प्राविधन योग्य है। दार्शनिक साहित्य वेदान्त में भी दार्शनिक पक्ष का अध्ययन अपेक्षित है। दर्शन के अध्ययन को रेखांकित करते हुए आइंस्टीन ने कहा– ''भौतिक विदों का प्रमुख दायित्व उन मूलभूत वैश्विक नियमों पर पहुँचना है, जिस के अधार पर सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड की रचना हो सकती है। इन नियमों के लिए कोई तार्किक पद्धति नहीं है, केवल अन्तर्दृष्टि, जो अनुभूति पर आधारित है।''

वेद के अधिकतर मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ होते हैं जिन के अध्ययन से सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ या कार्य के वैज्ञानिक सहस्य प्रकट होते हैं और इनको शक्ति रूप में परिणत करके सांसारिक उन्नति के नये-नये मार्गों का ज्ञान होता है।

वदों में उपलब्ध आख्यानों से, दार्शिनिक सूक्तों से विविध वैज्ञानिक चिन्तन का आविर्भाव प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं। संस्कृतवाङ्मय में कुछ इस प्रकार के भी वैज्ञानिक चिन्तन उपलब्ध हैं जिन का तात्पर्य अधिक सूक्ष्म आलोचन के बाद ही स्पष्ट होता है।

आधुनिक विज्ञान केवल पाश्चात्य जगत् की ही देन नहीं है अपितु अनेक सिद्धान्त प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिपादित विवेचन पर आधरित हैं यथा- **'सैद्धान्तिक विज्ञान'** बोधायन ने शुल्वसूत्र में वृत्त एवं त्रिभूज के फल का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो रेखागणित में प्रचलित पाइथागोरस प्रमेय से सादृश्य रखता है। कणाद ने वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद के सिद्धान्त में स्पष्ट कहा कि परमाणु अविभाज्य तथा दिग्रहित है। आज के वैज्ञानिक तथ्य Speetrum is the Language of atom. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेष समवायाभवाः सप्तपदार्थाः' पदार्थां के सात विभजन में वैशेषिक दर्शन ने बताये हैं। कणाद के पीलुपाक सिद्धान्त पहले कण (Molecule) टूटता है, फिर उष्मा ;भ्मंजद्ध का प्रवेश होता है। आधुनिक भौतिकी Kinetic theory of Gases esa Thermo- dynamic theory का प्रयोग बताते हैं। परमाणुवाद का सिद्धान्त संस्कृत की प्रमुख देन है।

५वीं शदी में आर्यभटट् ने सर्वप्रथम प्रतिपादि किया कि पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती है और तारे स्थिर हैं, जिसका हजार वर्ष बाद कोपर्निकस एवं केपलर आदि आधुनिक वैज्ञानिकों ने उसी रूप में प्रस्तुत किया। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में भूगोल, उल्काविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, कृषि, अभ्यिांत्रिकी, जन्तुविज्ञान आदि विषयों का प्रतिपादन किया है। प्रसिद्ध आर्यग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त में गुरुत्वाकर्षण का सविस्तार विवेचन किया है। **''अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्त्तया भगणाश्रिताः''** यथा- नोद बिन्दु पर बैठे अदृश्य देवता ग्रहों को अदृश्य रश्मि से खींचते हैं। भास्कराचार्य की पुस्तक **''सिद्धान्त शिरोमणि''** एवं **''तर्कसंग्रह''** में पृथिवी पर स्थित वस्तुओं पर गुरुत्वाकर्षण के लागू होने का वर्णन किया है। जिस का सैकड़ों वर्ष बाद **'गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त'** के नाम से न्यूटन ने प्रतिपादन किया। ज्यामितीय एवं त्रिकोणमितीय, प्रस्तार-पद्धति एवं दाशमिक प्रणाली (Decimal System) आदि सिद्धान्त संस्कृतवाङ्मय की देन है जिसे बाद में सर्वत्र अपनाया गया।

ब्रह्मगुप्त के **'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त'** में २०परिकर्म और ८ व्यवहार हैं। यूक्लिड के प्रमेय का इसमें वर्णन है। इनके अनुसार गणक वही है जो २० परिकर्म और आठ व्यवहार जानता है। सर्व प्रमुख गणितज्ञ के रूप में भास्कराचार्य द्वितीय को माना जाता है इन्हों ने अंकगणित, बीजगणित, ज्यामितीय, पूर्णाङ्ग, भिन्न, त्रैराशिक, ब्याज, करणियाँ, शून्यगणित, सरल समीकरण, वर्ग समीकरण, कुट्टक, चलन-कलन के आविष्कार और ग्रहों की दो प्रकार की गतियाँ स्थूल और तत्कालिक सूक्षम सिद्धान्तों का वर्णन सिद्धान्तशिरोमणि, लीलावती, बीजगणित तथा करण्कुतुहल किया। जिस की बीजगणित, रेखागणित, क्षेत्र गणित, त्रिकोणमिति गतिविज्ञान, स्थितिविज्ञान, सांख्यिकी आदि इसकी अनेक शाखायें बन गईं। सम्पूर्ण विश्व की यह मान्यता है कि अधिकांश गणितीय ज्ञान का उद्भव भारत भूमि पर हुआ है। वैदिक काल से ही भारतीयों के गणितीय ज्ञान का पता चलता है।

चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न रोगों के निदान के लिए विभिन्न औषधियों का वर्णन संस्कृत वाङ्मय में **'चरक संहिता'** में तथा शल्य-क्रिया का वर्णन 'सुश्रुत' में उपलब्ध होता है। हमारे ऋषि-मुनि एवं सिद्ध योगी मन्त्रों द्वारा, मानसी शक्ति, आत्मबल, स्पर्श विद्या, ब्रह्मविद्य तथा अभिमंत्रित जल से रोगों को अभिभूत करके उपचार करने जैसी विद्या संस्कृत-वाङ्मय में निहित है।

वैदिक काल के सन्दर्भ में वैज्ञानिक चिन्तन के जितने भी विषय थे इन सभी विषय थे उन सभी विषयों का समावेश ज्योतिष शास्त्र में है। संहिता-शास्त्र का विकास विज्ञान के विभिन्न अंगों के रूप में दिखाई देता है जैसे- मौसम विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि। इन विषयों की मूल संकल्पना एवं मूल-चिन्तनधारा आज भी ज्योतिषशासत्र में विद्यमान है।

ज्योतिषशासत्र को **'काल विज्ञान'** कहा गया है। यह काल के निर्धारण में समस्त प्रकाशमान बिन्दुओं की ही भूमिका सिद्ध करता है। प्रकाशमान बिन्दुओं के बिना काल की व्यावहारिक सत्ता को समझना कठिन कार्य है। आज गणित शास्त्र का सर्वाधिक विकास हो रहा है। गणित के द्वारा सारे वैज्ञानिक विषयों का विकास तीब्रबति से हो रहा है। गणि के कारण ही आज कम्प्यूटर विज्ञान चरमोत्कर्ष स्थिति पर पहुँचने हेतु प्रयत्नशील है। इन सबके मूल में भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा अन्वेषित शून्य दार्शनिक प्रणली का ही चमत्कार है। **''विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्''**

सक्षम, समृद्ध एवं सुविकसमान भाषा न केवल साहित्य के क्षेत्र में,प्रत्युत विज्ञान के विविध आयामों में भी अपनी समग्रता समेटे हुए है। अपने उच्च कोटि के ज्ञान-विज्ञान के कारण आज संस्कृत भाषा सम्पूण विश्व के आकर्षण का बिन्दु बन गयी है। संस्कृत-वाङ्मय का विपुल साहित्य-भाण्डार पाश्चात्य विद्वानों के लिए शोध का विषय बना हुआ है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागू भवेत।।

इति शम्।

महालिङ्गशास्त्री के प्रहसनों में सामाजिक स्थिति

–मञ्जू देवी
संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

लौकिक जीवन के आह्लाद विषाद रीति-नीति एवं आचार-व्यवहार के दर्शन भाण एवं प्रहसनों में किये जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों के मनोरंजन के लिए प्रहसनों की रचना होती रही है। मानव को नाटक पढ़ने या अवलोकन करने से आनन्द की अनुभूति तभी होगी जब नाटक में हास्य रस का समावेश हो। हास्य रस से भरपूर रूपक प्रहसन है। प्रहसन के माध्यम से हमें उस समय की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। समाज में प्रचलित विकृतियों का प्रभाव साहित्य पर पड़े बिना नहीं रहता, इसलिए संस्कृत प्रहसनों में घरेलू समस्याएँ अधिक मिलती हैं। संस्कृत-नाट्य-साहित्य में प्रहसन जैसे सामाजिक रूपक की रचना समाज-कल्याण के उद्देश्य से ही होती रही है।

इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर 18वीं शताब्दी के महालिङ्गशास्त्री जी ने कौण्डिन्य, उभयरूपकम तथा शृङ्गारनारदीय जैसे प्रहसनों की रचना की है। इन प्रहसनों के द्वारा परम्परा तथा आधुनिकता का द्वन्द्व के साथ पारिवारिक समस्या, दहेज प्रथा, नारी की स्थिति आदि को दर्शाया गया है। शृङ्गारनारदीय प्रहसन में प्रहसनकार ने नारी की स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है।

नारी की स्थिति : प्रस्तुत प्रहसन का पात्र नारद जब जलाशय में स्नान करने के उपरान्त नारी बन जाता है, तो ऋक्षरजा नामक वानर नारद के सौन्दर्य पर आसक्त हो जाता है तथा हाथ फैलाकर कहता है 'मेरा जो मन है, वह काम विद्या से युक्त, होकर सुन्दरता का आस्वादन करने को है, मुझे अपना मुख देखने दो।'[1] यह सब सुनकर नारद क्रोधित होकर कहता है – 'मर्कटपाश, मैं नारद हूँ, ब्रह्मा का प्रथम पुत्र। शाप दे दूँगा अगर मेरे साथ उपहास किया।'[2]

नारद जितना ही दूर जाते, उतना ही ऋक्षरजा उनके पीछे आता है तथा अपनी काम-पिपासा को शान्त करने के लिए नर से बनी नारी नारद से कहता है कि मेरे से अब नहीं रहा जा रहा है, मेरे अंगों पर मदन रूपी काम ने कब्ज़ा कर लिया है। ब्रह्मा ने ही जलाशय से निकली तुम्हें मेरी पत्नी बनाया है इसलिए अब तुम इन आँखों में आँसू मत लाओ।[3] स्त्री बने नारद के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध वह सम्पर्क स्थापित करना चाहता है। अपनी इस स्थिति को देखकर नारद कहता है – जैसे चूहा वस्त्र को खा जाता है, उसी प्रकार जो कामी लोग होते हैं वह स्त्री हृदय को खा जाते हैं। इस वानर के हाथ पड़ी मैं चपलाक्षी अर्थात् चंचल नेत्र वाला हो गया हूँ। यह जलाशय तो मायावी है। इसी जलाशय के कारण मैं स्त्री बना। किसी तरह से ऋक्षरजा से पीछा छुड़ाने के बाद, जब नारद विष्णु की प्रीत्यर्थ में वीणा बजाते हैं। विष्णु भगवान भी नारद पर मुग्ध होकर कहते हैं कि यह शरीर भोगों का घर है। इसलिए इसकी अवमानना नहीं करनी चाहिए। मैंने भी दानवों का नाश करने के लिए मोहिनी शरीर को धरा तथा शिव ने मुझे पत्नी के रूप में अपनाया।[4] अब तुम भी मेरे साथ सहवास से साठ पुत्रों को उत्पन्न करो। तुम्हारा जैसा शरीर सुन्दर दिख रहा है। ऐसे सौ शाप तुम्हें और लगें ताकि तुम्हारा सौन्दर्य और आकर्षक लगे। विष्णु भगवान भी नारद से बनी रदना के साथ अपनी काम-इच्छा को पूर्ण करना चाहते हैं।

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत प्रहसन के माध्यम से कवि ने नारी के शोषण के विषय में लोगों

को अवगत कराया है। प्रहसनकार ने नारद को स्त्री रूप में प्रस्तुत कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि एक पुरुष नारी का कैसे कामुक शोषण करता है जैसे ऋक्षरजा तथा विष्णु ने नारद बनी स्त्री का करते हैं। महालिङ्गशास्त्री जी ने उभयरूपक प्रहसन में जीवन के हर पहलू को उभारा है यथा –

ग्रामीण जीवन के प्रति द्वेष : मद्रास के महाविद्यालय में पढ़ रहे छागल का अपने गाँव से रागात्मक सम्बन्ध टूट जाता है। वह तो गाँव आना नहीं चाहता परन्तु पिता के आग्रह पर जब गाँव आता है, तो वहाँ की स्थिति को देखकर कहता है कि "अजीब गाँव है, मनोरंजन का कोई साधन ही नहीं। यहाँ के लोग जानवरों की तरह रहते हैं। हर तरफ गँदगी है। तालाब में भैंसे लोट रही है। खेतों में कीचड़ भरा हुआ है तथा सारा दिन यह लोग लड़ते-झगड़ते रहते हैं। खेत जिनके पास है, वे मज़दूरों का शोषण कर रहे हैं। इतना भेदभाव है कि नीच जाति के लोगों का जीवन कठिनाइयों से भरा हुआ है।[5]

अशिक्षा तथा अंधविश्वास : प्रस्तुत प्रहसन के माध्यम से महालिङ्गशास्त्री जी ने अशिक्षा तथा अंधविश्वास को लोगों के समक्ष रखा है। आधुनिक युग में गाँव के लोग आज भी अशिक्षित हैं। प्रस्तुत प्रहसन का नायक छागल जब चोरी-छिपे घर से चला जाता है, तो उसका बड़ा भाई छन्दोवृति कागज़ का टुकड़ा दिखाते हुए कहता है कि मुझे तो यह उसका अन्तिम सन्देश लगता है, ज़रूर कुछ कर बैठा है। यह सुनकर छागल की माँ कहती है कि वह "रामेश्वरी के मंदिर में कुमकुम से पूजा करायेंगी, महामारी के घर में अपने बच्चे की मूर्ति बनवाकर रखवायेगी[6] तथा सुमंगली देवी की पूजा भी करायेंगे, सब करायेंगे। भगवान् करे हमारे छागल को कुछ न हो।"[7] वह अपने पति को पुरोहित को बुलाने के लिए कहती है ताकि जान सके कि हमारे भाग्य में क्या लिखा है। पुरोहित बताता है कि गाँव से बाहर जाने का योग है, पर विष खाने से संकट की संभावना है।[8] यह सुनकर सभी लोग कमरे में जाते हैं। वहाँ पर एक पुड़िया कोने में पड़ी मिलती है, जिसमें गीला-गीला काले रंग का चूर्ण होता है। सभी सोचते हैं कि यह तो कोई महाविष है, जो छागल ने खा लिया है।

विष के बारे में जानने के लिए वैद्य सिन्दूरक को बुलाते हैं। पुड़िया देखकर सिन्दूरक कहता है कि हे धन्वन्तरि महाराज जी आप धन्य हैं। आज तक हमारे कुल के वैद्य इस विष के विषय में केवल सुनते आये हैं, परन्तु आज देख भी लिया। वह विष के विषय में कहता है – 'अरे यह तो कुष्ठरोगियों के लिए रामबाण औषध है, पर कोई ऐसा व्यक्ति खा ले, जिसे कुछ न हुआ हो तो उसके लिए यह महाविष है। तुम्हारे लड़के को यह कहाँ से मिल गया। इसका तो एक कण भी कोई स्वस्थ व्यक्ति खा ले तो पल भर में उसकी जीवन लीला समाप्त समझो, फिर उसे कोई नहीं बचा सकता।[9]

इस प्रकार अशिक्षा के कारण वैद्य जी ने दाढ़ी के बाल को विष बताया तथा अशिक्षित होने के कारण छन्दोवृति पत्र को नहीं पढ़ पाया।

सास बहू के बीच तनाव की स्थिति : उभयरूपक प्रहसन में सास बहू के बीच तनाव का मुख्य कारण है बहू शम्पा का अपने देवर का जूते लगाकर भोजन करना तथा गिलास के साथ मुँह लगाकर पानी पीना उचित नहीं लगता, इसलिए वह छागल का गिलास अलग रखवा देती है। यह देखकर सास पिप्पली कहती है – "हाँ हाँ तेरे खानदान में सब पवित्र हैं हम ही भ्रष्ट हैं। छन्दोवृति कुछ कहता नहीं इसलिए बहुत सिर चढ़ गई है, कुलच्छनी कहीं की। यह सब सुनकर बहू कहती ऐसी ही कुलच्छनी थी, तो क्यों ब्याह कर लाये अपने बेटे के लिए। आप तो जानती हैं कि मैं

कोई राजवधू नहीं हूँ मैं तो आपके पुत्र की ही वधू हूँ जो इस घर के बड़े पुत्र होकर भी तुम्हारे मनोरथों को पूरा नहीं कर पाये। अब तो राजकुमारी वञ्चना आयेंगी, इस घर में बहू बनकर, तब राज करना। बड़ा सुख देगी तुम्हें।"[10]

सास बहू के इस झगड़े के पश्चात् जब छन्दोवृति घर आता है, तो पिप्पली शिकायत करती हुई कहती है कि आज बंटवारा कराने के बाद ही तेरी थाली परोसेगी। घर उजाड़ने पर तुली है वो डायन। आ जाने दे तेरे पिता जी को।[11] यह सुनकर छन्दोवृति गुस्से में कहता है कि उसने तो कभी बंटवारे की बात नहीं की। अगर ऐसी बात है तो अभी उसे चोटी से पकड़कर घर से बाहर निकाल देता हूँ। तब तो तुम विश्वास करोगी कि तुम्हारा बेटा उसके वश में नहीं है।

इतना ही नहीं वह अपनी पड़ोसन से भी बहू की चुगली करती हुई कहती है कि बहू ने अपने घर से बाहर निकाल दिया है तथा मेरे लड़के को भी वश में कर रखा है तभी तो इतना इतराती है।

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि कुटुम्ब में स्त्रियों को जो यातनाएँ दी जाती हैं प्रहसनकार ने इन सब का जीता-जागता उदाहरण इस प्रहसन के माध्यम से किया है। कौण्डिन्य प्रहसन में कवि ने हास्य सर्जन कर लोगों के मनोरंजन के साथ मध्यवर्गीय परिवार की स्थिति का वर्णन किया है। प्रस्तुत प्रहसन का पात्र गृध्रनास तथा उसकी पत्नी जिह्मला भोजन लोलुप कौण्डिन्य से बचने के अनेक उपाय करते हैं।

मध्यवर्गीय परिवार की स्थिति : कौण्डिन्य जब भोजन के लालच में गृध्रनास के घर के पीछे के द्वार से घर में घुसता है, तो जिह्मला उसे अन्दर आते हुए देख लेती है तथा पति से कहत है कि पश्चिम द्वार से कोई चोर अन्दर घुसा है निर्लज्ज।[12] यह सुनगर गृध्रनास जल्दी-जल्दी गर्मा गर्म चिउड़े का सफाया करने लगता है। जिससे अंगुली के साथ जीभ भी जली तथा हाय हाय करने लगता है। पति की इस स्थिति को देखकर जिह्मला नाटक का अभिनय करते हुए कहती है – 'आपके न रहने पर फिर मैं क्या करूँगी? मैं भी मर जाऊँगी।' कौण्डिन्य के पूछने पर पत्नी ने कहा कि इन्हें कुछ दिनों से मुँह में बड़ा फोड़ा निकला था। आज तो मर ही रहे हैं। तुम वैद्य को बुला लाओ। कौण्डिन्य वैद्य को बुलाने के बहाने द्वार से बाहर निकलकर दरवाज़े के बगल में छिप जाता है। जिह्मला जब दरवाज़ा बन्द करने हेतु आई तो उसने कौण्डिन्य को समीप में छिपा पाया। गृध्रनास ने जब पत्नी की यह बात सुनी तो बोला "यह पापी तो ब्रह्मराक्षस की भाँति मेरे पीछे पड़ गया है। इससे कैसे पीछो छुड़ाया जाये।"[13]

कौण्डिन्य एक परान्नव्रती पात्र है। जो दूसरों के भोजन पर अपना जीवन चला रहा है।

मनोरंजन : प्रस्तुत प्रहसन में कवि ने प्रेक्षकों को हँसाने की प्रवृत्ति भी दिखाई है। गृध्रनास की पत्नी कौण्डिन्य से पीछा छुड़ाने के लिए छल का आश्रय ग्रहण कर चिल्लाना आरम्भ कर देती है मुझे बचाओ। गृध्रनास ने चिल्लाकर कहा कि क्या तुम्हें ब्रह्मराक्षस ने पकड़ लिया है। अभी मैं इसे भगाता हूँ। गृध्रनास ने मुसल लेकर अपना कार्यक्रम आरम्भ किया। इसी बीच यह देखकर कौण्डिन्य ने कुसूल से भूसा लेकर सूप को हाथ से उठा लिया तथा गृध्रनास के पास आते ही उसके मुँह पर भूसा दे मारा। गृध्रनास की आँखों में भूसा भर गया तथा आँख मिल मिलाने लगा। पीड़ा से परेशान होकर उसने पत्नी को बुलाया। अवसर पाकर कौण्डिन्य यह कहते हुए चिउड़े पर झपट पड़ा कि तुम तो भूसा खाओ। मैं चिउड़ा खाता हूँ तथा परिहास करते हुए जिह्मला से बोलता है कि फोड़े का डॉक्टर बुलाऊँ या फिर आँख साफ करने वाला। मैंने तुम्हारे पति को अगले जन्म में ब्रह्मराक्षस होने से बचा लिया, क्योंकि अतिथि का आनादर करने वाला अगले जन्म में ब्रह्मराक्षस बनता है।

इसी प्रकार शृंगारनारदीय प्रहसन में भी हास्य सृजन हुआ है। ऋक्षरजा नारद पर आसक्त होकर कहता है कि ऐसा कौन से आभूषण तुम्हें दूँ। कौन सी सुगंध दूँ कि जिससे तुम्हारे नेत्रों में मेरे लिए प्यार आ जाये। यह सुनकर नारद कहता है कि जलाशय में नहाकर आओ एवं उसके बाद मुझे ले जाओ। ऋक्षरजा बिना सोचे-समझे जलाशय में स्नान करने चला जाता है। जलाशय मायावी होने के कारण वह स्त्री बन जाता है। नारद उपहास करते हुए कहता है कि तुम तो अब कितनी अच्छी बन्दरी बन गई हो। अब तो सूर्य, चन्द्रमा आदि देवता जल्दी ही तुम्हारा अनुग्रह करेंगे। विष्णु ने ऋक्षरजा से कहा कि तुम्हें पुरुष बना देना चाहता हूँ, परन्तु स्त्री बना ऋक्षरजा तो नारी ही बनकर संसार को नचाना ठीक समझती है। इस प्रहसन में नारद का स्त्री बनना तथा ऋक्षरजा का पुरुष से स्त्री बनाना आदि हास्य का सृजन करते हैं। उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि महालिङ्गशास्त्री जी ने सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही प्रहसनों की रचना की है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. अयि, मन्मनःप्रमाथविद्ये, ... त्वन्मुखार विन्दमिलिन्दायितं ते दयितम्।
   शृङ्गारनारदीय, पृ० 11
2. आः पापिष्ठ, मर्कटपाश, नारदोऽहं ब्रह्मणः प्रथमः पुत्र। किं मुधा चापलं व्रजसि। शप्तोऽसियदे परिस्पन्दसे।
   शृङ्गारनारदीय, पृ० 11
3. विद्धि मां ब्राह्मणो जातं यहच्छालोचनाश्रुणा। कल्पिता तेन जाया मे सरसोऽस्मात् त्वमुत्थिता।
   शृङ्गारनारदीय, पृ० 11
4. भोगायतनं खलुस्त्रीशरीरम् किमर्थमवमान्यते। मयाऽपि किल पूर्व दानवप्रतारणार्थ मोहिनी भूतेन भुक्तो महेश्वरः।
   शृङ्गारनारदीय, पृ० 19
5. अहो ग्रामवासस्य विनोदेपलम्भ कार्यव्यम् पशुप्रायमत्रत्यानां जीवनम्।
   .... भुक्त्वा स्वपन्ति कलहान् विदधत्यनन्तान् लोके स्थितारिथतममी न तु चेतयन्ते।।
   उभयरूपकम्, श्लो० 23, पृ० 10
6. अभिरामेश्वर्याः कुङ्कमार्चनां कारयिष्ये। महामार्यालये वत्सस्य प्रतिमां स्थापयिष्ये।
   उभयरूपकम्, पृ० 26
7. समङ्गलीदेवता च पूजयिष्यते। सर्व कूर्मः यदि वत्सं जीवन्तं जानीमः।
   उभयरूपकम्, पृ० 26
8. अन्रता विषविभीषिकया किञ्चद्वैषस्यमस्तीव। तथापि पर्थवसानेऽनुकूलएवं।
   उभयरूपकम्, पृ० 30
9. अस्मत्पूर्वपरंपरारहस्यमिदं महार्ध कुष्ठचूर्णम्।
   .... तिन्तिडीदलमात्रं यत् प्राश्य हालाहलोपमम्
   .... पर्पटानलरीत्या भोः कालचूर्ण हि दारुणम्।।
   उभयरूपकम्, पृ० 31
10. नाहं राजदाराः। युष्माकं पुत्रस्यैव दाराः। यः ज्येष्ठोऽपि युष्माकं मनोरथेभ्यो दविष्ठः।
    या राजदाराः भाग्यवती सा वञ्चना अचिरादलङ्करिष्यसि वः सदनम्। यूयं च राजपितरौ राज्ञीश्वशुरौ विराजिष्यथ।
    उभयरूपकम्, पृ० 20
11. कुतः कूष्माण्डमन्धसि छादयसि? सा भागपत्रमादायैव किल स्थालीमथ्मन्ते निवेशयिष्यति। आगच्छतु ते पिता।
    उभयरूपकम्, पृ० 23
12. एष चोर इव पश्चिमद्वारेण प्रविशति निर्लज्ज। कौण्डिन्य प्रहसन, अंक द्वितीय
13. पापोऽयं ब्रह्मराक्षस इव निरन्तरं मामुबध्नाति।
    कौण्डिन्य प्रहसन, अंक द्वितीय

आदिकाव्य श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में प्रतिपादित भवन-सज्जा एक अनुशीलन

कु० सविता सिंह
संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

अखिल विश्व के साहित्य में संस्कृत का साहित्य अपनी व्यापकता के कारण सुविख्यात रहा है। संस्कृत वाङ्मय सर्वाङ्गीण है। यह सब अंगों से परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिए चार ही पुरुषार्थ हैं – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। प्रायः संसार में दो प्रकार की प्रवृत्तिगत धाराएँ देखी जाती है। एक धर्म एवं मोक्ष पर अवलंबित निवृत्तिमार्गी धारा, द्वितीय अर्थ एवं काम पर अवलंबित प्रवृत्ति मार्गी धारा। किन्तु भारतीय सनातन संस्कृति इन चारों पुरुषार्थों के मञ्जुल समन्वय पर आधाारित व्यवस्था है। भगवान कृष्णद्वैपायन वेद व्यास ने अपने महाभारत में कहा भी है –

धर्मार्थ कामः सममेव सेव्यः यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः।

साधारण लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत वाङ्मय में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है परंतु यह बात सटीक नहीं है। प्राचीन ग्रंथकारों ने भौतिक जगत के साधनभूत अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के वर्णन की ओर भी अपनी दृष्टि डाली है। संस्कृत वाङ्मय में मनुष्य के पारलौकिक कल्याण के साथ-साथ इहलौकिक कल्याण पर भी चर्चा है।

गृह निर्माण एवं साज-सज्जा पर भी संस्कृत मनीषियों की शेमुषी द्वारा विशद प्रकाश हुआ है। वेद हमारी सम्पूर्ण आस्था के आधार स्तम्भ हैं। सम्पूर्ण विद्याओं का मूल वेदों को स्वीकार किया जाता है। भगवान मनु ने **'सर्व ज्ञानमयो हि स'** एवं **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** कहकर इस कथन की पुष्टि करते हुए शब्द प्रमाण प्रतिपादित किया है। वेदों के अन्तर्गत परिगणित उपवेदों के अन्तर्गत स्थापत्य वेद भी आता है। स्थापात्यवेद यजुर्वेद से सम्बन्धित है जिसमें भवन सज्जा पर विशद विवेचन प्राप्त होता है। यह हमारे मनीषियों का चिंतन एवं शिल्पियों का योगदान रहा कि आज भी प्राचीन भारत की भवन-सज्जा आश्चर्य का विषय है। हम आज भी लिंगराज, खजुराहो, बृहदेश्वर, कन्याकुमारी, गढ़मुक्तेश्वर, जगन्नाथ, कोणार्क, वैशाली, अजंता का कैलाश मंदिर, एलौरा, न जाने अन्य कितने नाम हैं। न केवल भारतवर्ष ही अपितु भारत के सांस्कृतिक उपनिवेश में निर्मित कंबोडिया का अंकोरवाट, जावा का बोरोबुदूर, बाली, सुमात्रा, लंका स्याम (थाईलैंड), कंधार निर्मित भवन हमारे समक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इन सब का आधार भवन एवं गृह साज-सज्जा सम्बन्धित हमारा चिंतन है। जिसके सूत्र हमारे वाङ्मय में प्राप्त होते हैं।

हमारे यहॉ वेद, उपवेद, पुराण, आर्षकाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, मुक्तककाव्य, नाटक इत्यादि साहित्यिक ग्रन्थों में गृह साज-सज्जा में सम्बन्धित विचार प्राप्त होते हैं। वेदांगों में कल्प में परिगणित गृह्यसूत्रों एवं शुल्बसूत्रों में विवाह, विवाह सज्जा, मण्डप निर्माण, आसन निर्माण इत्यादि विषय प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त भा यत्किञ्चित् क्रियाएँ ऐसी हैं जो भवन सज्जा से सम्बन्धित हैं। विशेष रूप से आपस्तम्ब, बौधायन, कात्यायन, गृह्यसूत्रों में भवन सज्जा से सम्बन्धित विषय उपलब्ध होते हैं।

आर्षकाव्य श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण एवं महाभारत में भवन-सज्जा की चर्चा अनेक कथानकों में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से आदिकाव्य श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में वर्णित भवन-सज्जा परक विचार मेरा द्वारा विचारणीय है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सम्पूर्ण भारतीय समाज की चेतना का आगार ग्रन्थ है। रामायण एक साहित्य ग्रन्थ नहीं अपितु भारतीय जनमानस के

लिए आचार संहिता सदृश है। भारतीय जनमानस पग-पग पर अपने इस चिन्तन शास्त्र का अनुसरण करता हुआ दिखाई देता है। आज भी दिग् दिगन्त में इस ग्रन्थ की कीर्ति भुवन भास्करवत् दीपित हो रही है। स्वयं इस ग्रन्थ की उद्भावना है –

'यावद् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले'
तावद्रामायण कथा त्तोकेषु प्रचरिष्यति।।

रामायण की विषय वस्तु तीव व्यापक है। नाना प्रकार के विषय वस्तु की यहाँ पर उपलब्धता दृष्टिगत होती है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की अप्रतिहत लेखनी ने प्रत्येक प्रकार के विषय वस्तुओं का स्व-शब्दों में मञ्जुल वर्णन है। यह महाकवि की भावयित्री एवं कारयित्री प्रतिभा ही है, जिसने इस काव्य को अनन्त काल के लिए अमर बना दिया। भवन-सज्जा मानव के दैनन्दिन भौतिक जीवन का तीव महत्त्वपूर्ण भाग है। आदिकाव्य रामायण में भी भवन-सज्जा के अत्यन्त जीवन्त दिग्दर्शन प्राप्त होते हैं जो साहित्यिक दृष्टि से सौन्दर्य परक एवं आकर्षक होने के साथ-साथ प्राचीनकाल में विद्यमान भवन-सज्जा शिल्प विद्या की उत्कृष्टता का प्रमाण है। आदिकाव्य रामायण में स्थान-स्थान पर नगर-वर्णन के क्रम में भवन-सज्जा विषयक अनेकों दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं जैसे अयोध्या, मिथिला, लंकापुरी इत्यादि नगरी के भवन वर्णन में भवन-सज्जा का बड़ा ही आकर्षक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

राजा दशरथ द्वारा सुरक्षित अयोध्यापुरी का वर्णन करते हुए कहा गया है उस पुरी को स्वयं महाराज मनु ने बनवाया और बसाया था। वह शोभाशालिनी महापुरी बारह योजन लम्बी एवं तीन योजन चौड़ी थी। वहाँ बाहर के जनपदों में जाने का जो विशाल राजमार्ग था, वह उभयपार्श्व में विविध वृक्षावलियों से विभूषित होने के कारण सुस्पष्टतया अन्य मार्गों से विभक्त जान पड़ता था। सुन्दर विभागपूर्णक बना हुआ महान् राजमार्ग उस पुरी की शोभा बढ़ा रहा था। उस पर खिले हुए फूल बिखेरे जाते थे तथा प्रतिदिन उस पर जल का छिड़काव होता था। जैसे स्वर्ग में देवराज इन्द्र ने अमरावतीपुरी बसाई थी, उसी प्रकार धर्म एवं न्याय के बल से अपने महान् राष्ट्र की वृद्धि करने वाले राजा दशरथ ने अयोध्यापुरी को पहले की अपेक्षा विशेष रूप से बसाया था। वह पुरी बड़े-बड़े फाटकों तथा किवाडों से सुशोभित थी। उसके भीतर पृथक्-पृथक् बाज़ारें थीं। वह पुरी सुन्दर शोभा से सम्पन्न थी। उसकी सुषमा की कहीं तुलना नहीं थी। वहाँ ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ थीं, जिनके ऊपर ध्वज फहराते थे। उस नगरी में चारों और उद्यान तथा आमों के बगीचे थे। वहाँ के महलों का निर्माण नाना प्रकार के रत्नों से हुआ था। वे गगनचुम्बी प्रासाद पर्वतों के समान जान पड़ते थे। उनसे उस पुरी की बड़ी शोभा हो रही थी। उसकी शोभा विचित्र थी। उसके महलों पर सोने का पानी चढ़ाया गया था। वह सब प्रकार के रत्नों से भरी-पूरी तथा सतमहले प्रासादों से सुशोभित थीं।[1] इसी प्रकार विदेध्यराज जनक की नगरी मिथिला को देखकर समस्त ऋषिगण उसकी सुन्दरता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं जैसे –

तां दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्यपुरी शुभाम्।
साधु साध्विति शंसन्तो मिथिलां समपूजयन्।।[2]

पवित्र नदी सरयू के तट पर स्थित सप्त पुरियों में परिगणित में अयोध्या नगरी की शोभा का वर्णन श्रीराम के युवराजाभिषेक के समय देखते ही बनता है जिसका वर्णन इस प्रकार है –

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च। चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च।।
नानापव्यसमद्धेषु वणिजामापणेषु च। कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेष च।।
सभाषु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च। ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताकाश्चाभवंस्तथा।।
कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः। राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने।[3]

अर्थात् जिनके शिखरों पर श्वेत बादल विश्राम करते हैं, उन पर्वतों के समान गगनचुम्बी देवभन्दिरों, चौराहों, गलियों, देववृक्षों, समस्त सभाओं, अट्टालिकाओं, नाना प्रकार की बेचने योग्य वस्तुओं से भरी हुई व्यापारियों की बड़ी-बड़ी दुकानों तथा

कुटुम्बी गृहस्थों के सुन्दर समृद्धिशाली भवनों में और उनमें पताकाएँ फहरायीं गई। पुरवासियों ने श्रीराम के राज्याभिषेक के समय राजमार्ग पर फूलों की भेंट चढ़ाकर वहाँ सब ओर धूप की सुगन्ध फैला दी, ऐसा करके उन्होंने राजमार्ग को बहुत सुन्दर बना दिया। इसी प्रकार स्वर्णमयी लंका जिसके विषय में निम्न पंक्ति प्रसिद्ध है –

पुष्पेषु चम्पा नगरीषु लंका नदीषु गंगा नृवरेषु रामः।
नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णु काव्येषु माघः कवि कालिदासः।।[4]

उसी स्वर्णमयी लंका जो कभी यक्षाधिपति कुबेर की पुरी थी जिसे राक्षसेन्द्र रावण ने बलात् अधिकृत कर लिया था। इसी लंकापुरी का वर्णन महर्षि वाल्मीकि ने अतीव हृदयाकर्षक रूप में चित्रण किया है यथा –

प्रदोषकाले हनुमांस्तूर्णमुत्पत्य वीर्यवान्। प्रविवेश पुरीं रम्यां प्रविभक्तमहापथाम्।।
प्रासादमालावितताां स्तम्भैः काञ्चनसंनिभैः। शातकुम्भनिभैर्जालैर्गन्धर्वनगरोपमाम्।।
सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम्। तलैः स्फटिकसंकीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः।।
वैदूर्यमणिचित्रैश्च मुक्ताजालविभूषितैः। तैस्तैः शुशुभिरे तानि भवनान्यत्र रक्षसाम्।।
काञ्चनानि विचिरात्रिणि तोरणानि च रक्षसाम्। लंकामुद्योतयामासुः सर्वतः समलंकृताम्।।
अचिन्त्यामद्‌भुताकारां दृष्टा लंकां महाकपिः। आसीद् विषण्णो हृष्टश्च वैदेह्या दर्शनोत्सुकः
स पाण्डुराविद्धविभानमालिनीं महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम्।
यशस्विनीं रावणबाहुपालितां क्षपाचरैर्भीमबलैः सुपालिताम्।।[5]

अर्थात् वह नगरी पृथक्-पृथक् बने हुए चौड़े और विशाल राजमार्गों से सुशोभित थी। उसमें प्रासादों की लंबी पंक्तियाँ दूर तक फैली हुई थीं। सुनहरे रंग के खम्भों और सोने की जालियों से विभूषित वह नगरी गन्धर्वनगर के समान रमणीय प्रतीत होती थी। हनुमान् जी ने उस विशालपुरी को सतमहले, अठमहले, मकानों एवं सुवर्णजटित स्फटिक मणि की फर्शों से सुशोभित देखा। उनमें वैदूर्य (नीलम) भी जड़े गये थे, जिससे उनकी विचित्र शोभा बढ़ाती थी। उन सबके कारण राक्षसों के वे भवन बड़ी सुन्दर शोभा से सम्पन्न हो रहे थे। सोने के बने हुए विचित्र फाटक सब ओर से सजी हुई राक्षसों की उस लंका को देखकर महाकपि हनुमान् विषाद में पड़ गये, परस्पर सटे हुए श्वेतवर्ण के सतमंजिले महलों की पंक्तियाँ लंकापुरी की शोभा बढ़ा रही थी। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्ण की जालियों और वन्दनवारों से वहाँ के घरों को सजाया गया था। सुवर्ण के बने हुए द्वारों से उस नगरी की अपूर्व शोभा हो रही थी। उन सभी द्वारों पर नीलम के चबूतरे बने हुए थे। वे सब द्वार हीरों, स्फटिकों तथा मोतियों से जड़े गये थे। मणिमयी फर्शें उनकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनकी सीढ़ियां नीलम की बनी हुई थीं।

इन श्लोकों को पढ़ने के उपरान्त हमें उस काल की भवन-सज्जा विषयक समृद्धि शालिता का अवबोध होता है, कि उस काल की भवन-सज्जा चरम पर थी। इसी प्रकार हनुमान् उत्सुक होकर माता जानकी की खोज में इधर-उधर भ्रमण करते हुए रावण के निवास की सुन्दर हवेली को देखते हैं जिसका चित्रण महर्षि वाल्मीकि ने विस्तार एवं अद्‌भुत रूप से किया है–

तन्नक्रमकराकीर्णं तिमिंगिलझषाकुलम्। वायुवेगसमाधूतं पन्नगैरिव सागरम्।
या हि वैश्रवणे लक्ष्मीर्या चन्द्रे हरिवाहने। सा रावणगृहे रम्या नित्यमेवानपायिनी।।
ततस्तां प्रस्थितः शालां ददर्श महतीं शिवाम्।
रावणस्य महाकान्तां कान्तामिव वरस्त्रियम्।।
मणिसोपानविकृतां हेमजालविराजिताम्।
स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम्। मुक्तावज्रप्रवालैश्च रुप्यचामीकरैरपि।।

विभूषितां मणिस्तम्भैः सुबहुस्तम्भभूषिताम्। समैर्ऋजुभिरव्युच्चैः समन्तात् सुविभूषितः।।
स्तम्भैः पक्षैरिवात्युच्चैर्दिवं सम्प्रस्थितामिव। महत्या कुथपाऽऽस्तीर्णां पृथ्वीलक्षणाङ्कया।।[6]

रावण का वह महल नर-नारियों से भरा हुआ कोलाहलपूर्ण भवन नाके एवं मगरों से व्याप्त, तिमिंजलों और मत्स्यों से पूर्ण, वायुवेग से विक्षुब्ध तथा सर्पों से आवृत्त महासागर के समान प्रतीत होता था। जो लक्ष्मी कुबेर, चन्द्रमा तथा इन्द्र के यहाँ निवास करती है, वे ही और भी सुरम्य रूप से रावण के घर में नित्य ही निश्चल होकर रहती थी। वह हवेली बहुत ही सुन्दर और सुखद थी। वह हवेली रावण को बहुत प्रिय थी, ठीक वैसे ही जैसे पति को कान्तिमयी सुन्दर स्त्री अधिक प्रिय होती है। उसमें मणियों की सीढ़ियाँ बनी थी और सोने की खिड़कियाँ उसकी शोभा बढ़ाती थीं। उसकी फर्श स्फटिक मणि से बनाई गई थी, जहाँ बीच-बीच में हाथी के दाँत के द्वारा विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनी हुई थीं। मोती, हीरे, मूँगे, चाँदी तथा सोने के द्वारा भी उसमें अनेक प्रकार के आकार अंकित किये गये थे। मणियों के बने हुए बहत से खम्भे, जो समान, सीधे, बहुत ही ऊँचे और सब ओर से विभूषित थे आभूषण की भाँति उस हवेली की शोभा बढ़ा रहे थे। उसके भीतर पृथ्वी वन-पर्वत आदि चिन्हों से अंकित एक बहुत बड़ा कालीन बिछा हुआ था। उस हवेली में बहुमूल्य बिछौने बिछे हुए थे तथा स्वयं राक्षसराज रावण उसमें निवास करता था। स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने रामायण के युद्ध काण्ड के 24वें सर्ग के श्लोक संख्या 9वें में अपने अनुज लक्ष्मण के प्रति किया गया लंकापुरी वर्णन भी अत्यन्त चित्ताकर्षक है।

इस प्रकार विचार करने के उपरान्त पाते हैं कि भवन साज-सज्जा विषयक विद्या आधुनिक युगीन न होकर अति प्राचीनकाल से हमारी परम्परा में चली आ रही है। इसके प्रमाण के रूप में वाल्मीकीय रामायण के उदाहरण लोक के समक्ष उपस्थित है। इससे ज्ञात होता है कि हमारी प्राचीन परम्परा में निहित ज्ञान राशि कितनी समृद्ध थी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।।
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी। श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा।।
राजमार्गेण महत्ता सुविभक्तेन शोभिता। मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः।।
तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः। पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा।।
प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्। कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रयवारावतीम्।।
चित्रामष्टापदाकारां वरनारीगणायुताम्। सर्वरत्नसाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्।।
—श्रीमद्वाल्मीकीरामायण, खण्ड-1, काण्ड-1, सर्ग-5, श्लो० 6 से 16 पर्यन्त।
2. बालकाण्ड, खण्ड-1, काण्ड-1, सर्ग-48, श्लो० 10
3. अयोध्याकाण्ड, खण्ड-1, काण्ड-2, सर्ग-60, श्लो० 11-13, 17
4. सुभाषिरत्नभाण्डारगम्।
5. सुन्दरकाण्ड, खण्ड-2, काण्ड-5, सर्ग-2, श्लो० 50 से 56 पर्यन्त
6. सुन्दरकाण्ड, खण्ड-2, काण्ड-5, सर्ग-9, श्लो० 7, 8, 21 से 25 पर्यन्त

समाजदर्शनः भर्तृहरि रचित नीतिषतक

डॉ. प्रतिभा
असिस्टैण्ट् प्रोफेसर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

संस्कृत साहित्य में भर्तृहरि को विशेष सम्मान प्राप्त है। उन्होंने तीन शतकों की रचना की - नीतिशतक, वैराग्यशतक तथा शृंगारशतक। इनमें नीतिशतक सार्वभौम एवं सार्वकालिक कृति है। इसमें कवि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका के द्वारा समाज का सम्यक् निरीक्षण कर समाज की विविधता तथा विचित्रता का विस्तार से आंकलन किया है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। कोई भी रचना तत्कालीन समाज के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकती। भर्तृहरि के 'नीतिशतक' में केवल नैतिकता का ही उपदेश नहीं बल्कि इसमें मानवमात्र के लिए चाहे वह राजा हो, चाहे सज्जन, चाहे दुष्ट हो या मूर्ख, विद्या, धन, राजनीति आदि विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इससे तत्कालीन समाज का भी पूर्णरूप से परिचय प्राप्त होता है।

विद्या का महत्त्व - तत्कालीन समाज में विद्या को बहुत महत्त्व दिया गया था। विद्या से सम्पन्न व्यक्ति राजाओं के मध्य पूजनीय मान जाता था, विद्या को सबसे बड़ा देवता माना जाता था और विद्या से विहीन मनुष्य को पशु माना जाता था। तद्यथा -

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
प्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते।।[1]

अर्थात् जो विद्याधन चुराने वाले के हाथ नहीं लगता, जो अनिर्वचनीय कल्याण की सदैव वृद्धि करता है, जो चाहने वाले विद्यार्थियों को नित्य देने पर भी अत्यन्त वृद्धि करता है, और जो प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता है, ऐसा विद्यारूपी गुप्तधन जिसके पास है, उनके प्रति हे राजाओ! गर्व दिखाना छोड़ दो। उनकी बराबरी कौन कर सकता है अर्थात् उनको दवाने या उनकी बरावरी की इच्छा कोई नहीं कर सकता है।

उस समय विद्या को मनुष्य के लिए सबसे बड़ा सौन्दर्य और उसे गुरुओं की भी गुरु समझा जाता था। उदाहरण के लिए निम्नश्लोक द्रष्टव्य है-

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीनः पशुः।।[2]

अर्थात् विद्या ही मनुष्य की सबसे बड़ी सुन्दरता है, यही उसका छिपा हुआ सुरक्षित धन है। विद्या ही भोगविलास देने वाली, यश और सुख देने वाली है, विद्या गुरूओं की भी गुरू है अर्थात् उनसे

भी अधिक पूज्य है विदेश में विद्या बन्धु के समान है, विद्या सबसे बड़ी देवी है। राजाओं के बीच विद्या की ही पूजा होती है धन की नहीं, अतः विद्या से हीन पुरूष पशु हैं।

विशुद्ध व्याकरण आदि से परिष्कृत वाणी को ही उस समय सबसे महत्त्वपूर्ण आभूषण समझा जाता था। जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा –

केयूराणि न भूषयन्ति पुरूषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरूषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।[३]

अर्थात् पुरूष को न तो बाजूबन्द ही भूषित करते हैं, न तो चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हार, न स्नान, न लेपन, न फूल और न सँवारे हुए बाल ही। केवल वह वाणी जो व्याकरण आदि से शुद्ध करके धारण की जाती है, पुरूष को भली भान्ति भूषित करती है। अन्य आभूषण कालक्रम से नष्ट हो जाते हैं परन्तु वाणीरूपी भूषण नित्य रहने वाला आभूषण है।

विद्या के साथ साथ तत्कालीन समाज में साहित्य, संगीत, कला, तप, दान शील गुण तथा धर्म को भी बहुत महत्त्व दिया गया था। इन सब से रहित मनुष्य के रूप में पशुओं जैसा निम्न स्थान दिया जाता था। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।।[४]

अर्थात् साहित्य, संगीत, और कला से अपरिचित मनुष्य बिना पूँछ और सींग के साक्षात् जानवर है। वह तृण न खाकर भी जीवित रहता है, यह प्राकृत पशुओं के लिए बड़े सौभाग्य की बात है।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।[५]

विद्या, कला और साहित्य का महत्त्व होने के कारण विद्वान् कवि भी पूजनीय हुआ करते थे, इसलिए उस समय राजा भी विद्वान् कवियों का पूर्ण सम्मान करते थे, उन्हें धनादि से सन्तुष्ट रखते थे कवि चाहे निर्धन हों पर वे ईश्वर का रूप माने जाते थे, यदि राजा उनका सम्मान न करे तो उस राजा की ही जड़ता मानी जाती थी। तद्यथा-

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमाः,
विख्याता कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निधनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः कुत्स्याः
स्युः कुपरीक्षका न मणयो यैरर्घतः पातिताः।।[६]

अर्थात् शास्त्रों के द्वारा अलङ्कृत किये हुये शब्दों से सुन्दर वाणी वाले, तथा शिष्यों को शास्त्रों का उपदेश करने वाले प्रसिद्ध कवि लोग जिस राजा के देश में निर्धन होकर निवास करते है (इससे) उस राजा की ही जड़ता सूचित होती है, विद्वान् कवि तो निर्धन रहने पर भी ईश्वर हैं क्योंकि बुरे पारखी ही निन्दा के पात्र होते हैं, जिनके द्वारा रत्नों का मूल्य कम आँका जाता है।

यही भाव अगले श्लोक में वर्णित है-

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थाः तृणमिव लघु लक्ष्मीनैर्व तान्संरूणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ।।[७]

अर्थात् हे राजन्! तत्वज्ञानी पण्डितों का अनादर मत करो। तुच्छ घास के समान लक्ष्मी उन्हें बाँध ा नहीं सकती (वश में नहीं कर सकती) कमल के डंठल का सूत नवीन मद की लकीरों से काले गण्डस्थल वाले हाथियों का बन्धन नहीं हो सकता।

विद्वानों के चातुर्य रूपी यश की हंस के दूध और पानी को अलग करने वाले विवेक के साथ तुलना करते हुए विद्वानों की महिमा गाई गई है-

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः।।[८]

अर्थात् क्रुद्ध ब्रह्मा हंसिनी का कमलिनी के वन में विहार करना ही एकदम रोक लेता है परन्तु उसके दूध और जल को अलग अलग कर देने वाले विख्यात चातुर्य को नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकता। और भी -

किं सर्पैर्यदि दुर्जनः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि,
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्।।[९]

अर्थात् यदि अपने पास निष्कलंक विद्या है तो धन की क्या आवश्यकता, यदि मनुष्य में लज्जा है तो अन्य आभूषणों का क्या प्रयोजन? और यदि सुन्दर कविता है तो राज्य से क्या प्रयोजन?

भर्तृहरि ने अच्छी रचनाएँ लिखने वाले रससिद्ध कवीश्वरों के लिए भी अपने सुन्दर विचार अभिव्यक्त किये हैं-

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।[१०]

अर्थात् वे सुकृती शृङ्गार आदि रसों में सिद्ध कवीश्वर विजयी होते है, जिनके यशरूपी शरीर को वृद्धावस्था तथा मृत्यु का भय नहीं रहता।

सज्जनों की प्रशंसा -

भर्तृहरि के समय त्यागी, तपस्वी; तेजस्वी, तथा मनस्वी सज्जन लोग हुआ करते थे, जो स्वयं त्यागी होते हुए भी तेजस्विता का जीवन यापन करते थे, जिनका सम्पूर्ण जीवन अपने लिए नहीं प्रत्युत दूसरों के उपकार तथा दुखियों के दुखों के निवारण के लिए होता था। भर्तृहरि ने कई सुन्दर उपमायें देकर इस विषय को प्रस्तुत किया है-

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरूषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।[११]

अर्थात् फल लगने से वृक्ष झुक जाते है, नये जल से बादल बहुत दूर तक लटक जाते हैं और सज्जन लोग समृद्धियों से नम्र हो जाते है। यह परोपकारियों का स्वभाव है।

दुर्जन तथा मूर्खजन निन्दा -

नीतिशतक का अध्ययन करने से यह भी सुस्पष्ट होता है कि जहाँ उस समय विद्या विद्वान्, कला प्रेमी, साहित्यिक कवियों आदि को सम्मान की .ष्टि से देखा जाता था, वही उस समय दुष्ट लोगों का भी अभाव नहीं था। किन्तु उन्हें उस काल में त्याज्य तथा निन्दनीय समझा जाता था। उस समय के

दुष्टजनों के लक्षण भर्तृहरि ने इस प्रकार गिनाये हैं -

निर्दयता, बिना कारण झगड़ना, दूसरे का धन पाने की इच्छा करना एवं परस्त्री का उपभोग करने की कामना करना, सज्जनों एवं बन्धुओं के प्रति असहनशीलता। भर्तृहरि दुष्टों के इन गुणों को प्रतिपादित करते हुये उनके सम्बन्ध में लिखते हैं - दुष्टों के इन स्वभाव सिद्ध विचारों को कोई बदल नहीं सकता तथा उनसे कभी किसी को लाभ नहीं पहुँच सकता।[१२]

उस समय के दुष्ट लोग लज्जाशील व्यक्ति में जड़ता, व्रत में रूचि रखने वाले पुरूष में पाखण्डता, पवित्र चरित्र वालों में कपटीपन, पराक्रमी पुरूषों में निर्दयता, मुनि या मौनी में मतिहीनता, मधुरभाषी में दीनता, तेजस्वी को अहङ्कारी, वक्ता को बड़बड़ करने वाला, गम्भीर पुरूषों को सामर्थ्यविहीन मानते थे। इस प्रकार उस समय के दुष्ट लोग सत्पुरूषों के गुणों में से कोई दोष अवश्य निकालते रहते थे।[१३]

इसलिए उस समय की स्थिति को देखकर भर्तृहरि को यह लिखना पड़ा -

दुर्जनः परिहर्तव्यः विद्ययाघ्लङ्कृतोघपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ।।[१४]

अर्थात् विद्वान् होने पर भी दुर्जन मनुष्य सर्वथा त्याज्य है। मनुष्य को उससे संसर्ग नहीं रखना चाहिए क्योंकि विद्यासम्पादन कर लेने पर भी उसकी दुष्टता कभी नष्ट नहीं होती, जैसे फण में मणि लगने पर भी विष धर साँप अपनी भयङ्करता को नहीं छोड़ता और समय आने पर प्राणियों को अवश्य काट लेता है।

नीतिशतक की रचना के समय मूर्खजन भी थे जो इतने अहङ्कारी थे कि उन्हें चतुर व्यक्ति भी समझा नहीं पाते थे। भर्तृहरि ने लिखा-

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक्छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्।।[१५]

अर्थात् आग जल से शान्त की जा सकती है। सूर्य की धूप छाते से रोकी जा सकती है, मतवाला हाथी तीखे अङ्कुश द्वारा वश में किया जा सकता है, गौ एवं गधे डण्डे से ठीक किये जा सकते हैं, रोग दवाओं से दूर किया जा सकता है और विष अनेक प्रकार के मन्त्रों से उतारा जा सकता है इस प्रकार सब की दवा शास्त्रों में विहित है किन्तु मूर्ख मनुष्य की कोई दवा नहीं है अतः मूर्ख की मूर्खता का प्रतिकार अशक्य है।

अन्य श्लोक का भाव प्रस्तुत करते हुए भर्तृहरि ने लिखा-

जो अपने अमृतमय मधुर उपदेश वचनों से दुष्टों को सज्जनों के सन्मार्ग पर ले जाना चाहता है, वह कोमल कमलनाल के सूक्ष्म सूत्रों से हाथी को बाँधने की इच्छा करता है, शिरीष के फूल के अग्रभाग से हीरे को काटने की इच्छा करता है और खारे समुद्र को दो एक बूँद शहद डाल कर मीठा बनाना चाहता है, जैसे ये सब सम्भव नहीं है, उसी प्रकार दुष्टों को भी कभी सन्मार्ग पर नहीं लाया जा सकता।

सत्सङ्गति का महत्त्व -

भर्तृहरि उस समय के दुष्टजनों की दुष्टता तथा मूर्खों की मूर्खता से अत्यन्त व्यथित थे इसलिए

उन्होंने नीतिशतक में दुष्टों से दूर रहने तथा सज्जनों की संगति अपनाने पर बल दिया। अपनी बात की पुष्टि में उन्होंने सत्सङ्गति के गुण भी बताये-

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।।[१६]

अर्थात् सत्पुरूषों का सङ्ग बुद्धि की जड़ता को दूर करता है, वाणी में सत्यता की स्थापना करता है, मान की वृद्धि करता है तथा दिशाओं में कीर्ति का प्रसार करता है। बताओं सज्जन पुरूषों का साथ मनुष्यों के लिए कौन सा कार्य नहीं करता।

भर्तृहरि ने अन्यत्र भी लिखा -

गर्म लोहे पर पड़े जल का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता, वही कमल के पत्ते पर मोती की शक्ल धारण करने पर सुन्दर प्रतीत होता है, फिर वही स्वाति नक्षत्र में समुद्र की सीपी में पड़कर मोती बन जाता है। इस प्रकार निकृष्ट, मध्यम तथा उत्तम गुण प्रायः संसर्ग से ही उत्पन्न होते हैं।

राजनीति -

भर्तृहरि ने राजाओं की नीति तथा उनके कर्तव्यों पर भी निर्देश दिये। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि उस समय राजा अपने कर्तव्यों के प्रति उतने सजग नहीं थे जितना कि उन्हें होना चाहिए। भर्तृहरि ने निर्देश दिया -

हे राजन्! यदि तुम इस पृथ्वी रूपी गाय को दुहने की इच्छा करते हो तो इस समय इस प्रजावर्ग का बछड़े के समान पालन पोषण करो। प्रजाजन का नित्य अच्छी तरह से पालन करने पर ही पृथ्वी कल्पलता के समान अनेक प्रकार के फलों द्वारा अर्थात् फल तथा कृषि इत्यादि द्वारा समृद्ध होती है।

नीतिशतक के रचनाकाल के समय राजनीति के अनेक रूप थे। जैसा कि भर्तृहरि लिखते हैं -

कभी सच्ची और कभी झूठी, कभी कटुभाषिणी और कभी मधुरभाषिणी, कभी हिंसक और कभी दयालु, कभी धनुलोलुप और कभी उदार, कभी नित्य व्यय करने वाली तो कभी धन पैदा करने वाली - इस प्रकार राजनीति वेश्या के समान अनेक रूपों वाली होती है।

धन का महत्त्व -

विद्या को धन के समान उत्तम समझने वाले भर्तृहरि ने धन की महत्ता पर भी अनेक श्लोक लिखे। इससे ज्ञात होता है कि उस समय धन को भी बहुत महत्त्व दिया जाता था। अन्य गुणों के न होने पर भी धनवान् व्यक्ति को सर्वगुण सम्पन्न मान लिया जाता था तथा धन विहीन व्यक्ति को तुच्छ समझा जाता था। तद्यथा-

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।।[१७]

अन्यत्र भी भर्तृहरि का कहना है - वे ही सभी इन्द्रियाँ रहती हैं, वही कर्म वही तीव्र बुद्धि और वही वचन रहता है परन्तु धन की गर्मी से शून्य होकर वही पुरूष क्षणभर में कुछ का कुछ हो जाता है।

भाग्य का महत्त्व -

भर्तृहरि के समय भाग्यवाद का भी प्रचार था। भर्तृहरि भी भाग्य के समर्थक थे। नीतिशतक में इन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा -

चन्द्रमा और सूर्य में ग्रहण लगना, हाथी और साँप का बाँधा जाना बुद्धिमानों की गरीबी

देखकर यह कहना पड़ता है कि भाग्य बलवान् हैं।

दान की महिमा –

भर्तृहरि के समय दान की भी महिमा थी जैसा कि नीतिशतक के निम्नश्लोक से ध्वनित होता है-

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।[२८]

अर्थात् धन की तीन गतियाँ हैं – दान, भोग , और नाश। जो व्यक्ति न तो दान देता है और न ही उपभोग करता है उसके धन की तीसरी गति होती है अर्थात् उसके धन का नाश हो जाता है।

सहायक सन्दभ्र ग्रन्थ-सूची

१. नीतिशतकम् १६
२. नीतिशतकम् २०
३. नीतिशतकम् १२
४. नीतिशतकम् ८
५. नीतिशतकम् ३
६. नीतिशतकम् ११
७. नीतिशतकम् ५३
८. नीतिशतकम् ६०
९. नीतिशतकम् ६६
१०. नीतिशतकम् ३३
११. नीतिशतकम् ४०
१२. नीतिशतकम् ५१
१३. नीतिशतकम् २
१४. नीतिशतकम् ७५
१५. नीतिशतकम् ७
१६. नीतिशतकम् ९
१७. नीतिशतकम् १०
१८. नीतिशतकम् २३
१९. नीतिशतकम् २७
२०. नीतिशतकम् ३८
२१. नीतिशतकम् ४५
२२. नीतिशतकम् ४७
३३. नीतिशतकम् ५८
२४. नीतिशतकम् ६७
२५. नीतिशतकम् ८१
२६. नीतिशतकम् ८२
२७. नीतिशतकम् ८४

RELEVANCE OF ṢANSKRIT AND VEDAS IN MODERN AGE

Dr. Deepali Khajuria
GDC, Sunderbani

Each language is the sign and power of the soul of the people, which naturally speaks it. Each develops therefore its own peculiar spirit, thought-temperament, and way of dealing with life and knowledge and experience.... Therefore it is of the utmost value to a nation a human group-soul, to preserve its language and to make of it a strong and living culture instrument. A nation, race or a person, which loses its language, cannot live its whole life or its real life.

The [Sanskrit} language itself, as has been universally recognized by those competent to form a judgment, is one of the most magnificent, the most perfect and wonderfully sufficient literary instruments developed by the human mind, at once majestic and sweet and flexible, strong and clearly-formed and full and vibrant and subtle, and its quality and character would be of itself a sufficient evidence of the character and quality of the race whose mind it expressed and the culture of which it was the reflecting medium.

The Sanskrit language is the devabhasa or original language spoken by men in Uttara Meru at the beginning of the Manwantara; but in its purity it is not the Sanskrit of the Dwapara or the Kali, it is the language of the Satya Yuga based on the true and perfect relation of vak and artha. Every one of its vowels and consonants has a particular and inalienable force which exists by the nature of things and not by development or human choice; these are the fundamental sounds which lie at the basis of the Tantric bijamantras and constitute the efficacy of the mantra itself. Every vowel and every consonant in the original language had certain primary meanings, which arose out of this essential Shakti or force and were the basis of other derivative meanings. By combination with the vowels, the consonants, and without any combination, the vowels themselves formed a number of primary roots, out of which secondary roots were developed by the addition of other consonants. All words were formed from these roots, simple words by the addition again of pure or mixed vowel and consonant terminations with or without modification of the root and more complex words by the principle of composition.

This language increasingly corrupted in sense and sound becomes the later Sanskrit of the Treta, Dwapara and Kali Yuga, being sometimes partly purified and again corrupted and again partly purified so that it never loses all apparent relation to its original from and structure. Every other language, however remote, is a corruption formed by detritions and perversion of the original language into a Prakrit or the Prakrit of a Prakrit and so on to increasing stages of impurity. The superior purity of the Indian language is the reason of its being called the Sanskrit and not given

any local name, its basis being universal and eternal; and it is always a rediscovery of the Sanskrit tongue as the primary language that prepares first for a true understanding of human language and, secondly for a fresh purification of Sanskrit itself.

Hindutva which emulates its cultural past glorifies Sanskrit as the mother of all languages and promotes it as a possible national language of India in the future. Sanskrit is also presented as the very language of the Gods and the spiritual tongue of humanity. Claim is made of its superiority as the more precise and profound language than any of the world's tongues. According to some, Sanskrit went West in order to help evolve the Western and the Indo-European languages of today. V.D.Savarkar says that the Hindus are not only a nation (*rashtra*), a race (*jati*), but as a consequence of being both, own a common Sanskriti culture expressed and preserved chiefly and originally through Sanskrit which is the real mother tongue of the Hindu race. He further described Sanskrit as the richest and the most cultured of the ancient languages of the world, the holiest tongue of tongues and the mother of the majority of mother tongues. According to S.P.Mookerjee, the founder of the Jana Sangh, whatever is of abiding value in Indian culture is preserved in Sanskrit. For Arun Shourie, Sanskrit was the one all-India language and Brahmins were the one all-India caste. They were also the group which preserved the cultural elements of India. Some even go to the extent of making the audacious claim that the whole world from the beginning of time up to the rise of Christianity spoke Sanskrit and followed the Vedic way of life.

SANSKRIT LITERATURE

Sanskrit literature can be classified under six orthodox heads and four secular heads. The six orthodox sections form the authoritative scriptures of the Hindus. The four secular sections embody the latter developments in classical Sanskrit literature.

The six scriptures are:

(i) Srutis, (ii) Smritis, (iii) Itihasas, (iv) Puranas, (v) Agamas and (vi) Darsanas.

The four secular writings are: **(i) Subhashitas, (ii) Kavyas, (iii) Natakas and (iv) Alankaras.**

VEDA-THE REVEALED WISDOM

The Srutis are called the Vedas, or the Amnaya. The Hindus have received their religion through revelation, the Vedas. These are direct intuitional revelations and are held to be Apaurusheya or entirely superhuman, without any author in particular. The Veda is the glorious pride of the Hindus, nay, of the whole world!

The term Veda comes from the root **'Vid'**, to know. The word Veda means knowledge. When it is applied to scripture, it signifies a book of knowledge. The Vedas are the foundational scriptures of the Hindus. The Veda is the source of the other five sets of scriptures, why, even of the secular and the materialistic. The Veda is the storehouse of Indian wisdom and is a memorable glory which man can never forget till eternity.

The Vedas are the eternal truths revealed by God to the great ancient Rishis of India. The

word Rishi means a Seer, from dris, to see. He is the Mantra-Drashta, seer of Mantra or thought. The thought was not his own. The Rishis saw the truths or heard them. Therefore, the Vedas are what are heard (Sruti). The Rishi did not write. He did not create it out of his mind. He was the seer of thought which existed already. He was only the spiritual discoverer of the thought. He is not the inventor of the Veda.

GLORY OF THE VEDAS

The Vedas represent the spiritual experiences of the Rishis of yore. The Rishi is only a medium or an agent to transmit to people the intuitional experiences which he received. The truths of the Vedas are revelations. All the other religions of the world claim their authority as being delivered by special messengers of God to certain persons, but the Vedas do not owe their authority to any one. They are themselves the authority as they are eternal, as they are the Knowledge of the Lord.

Lord Brahma, the Creator, imparted the divine knowledge to the Rishis or Seers. The Rishis disseminated the knowledge. The Vedic Rishis were great realised persons who had direct intuitive perception of Brahman or the Truth. They were inspired writers. They built a simple, grand and perfect system of religion and philosophy from which the founders and teachers of all other religions have drawn their inspiration.

The Vedas are the oldest books in the library of man. The truths contained in all religions are derived from the Vedas and are ultimately traceable to the Vedas. The Vedas are the fountain-head of religion. The Vedas are the ultimate source to which all religious knowledge can be traced. Religion is of divine origin. It was revealed by God to man in the earliest times. It is embodied in the Vedas.

The Vedas are eternal. They are without beginning and end. An ignorant man, may say how a book can be without beginning or end. By the Vedas, no books are meant. Vedas came out of the breath of the Lord. They are not the composition of any human mind. They were never written, never created. They are eternal and impersonal.

The date of the Vedas has never been fixed. It can never be fixed. Vedas are eternal spiritual truths. Vedas are an embodiment of divine knowledge. The books may be destroyed, but the knowledge cannot be destroyed. Knowledge is eternal. In that sense, the Vedas are eternal.

DIVISIONS OF THE VEDAS

The Veda is divided into four great books: the Rig-Veda, the Yajur-Veda, the Sama-Veda and the Atharva-Veda. The Yajur-Veda is again divided into two parts, the Sukla and the Krishna. The Krishna or the Taittiriya is the older book and the Sukla or the Vajasaneya is a later revelation to sage Yajnavalkya from the resplendent Sun-God.

The Rig-Veda is divided into twenty-one sections, the Yajur-Veda into one hundred and nine sections, the Sama-Veda into one thousand sections and the Atharva-Veda into fifty sections. In all, the whole Veda is thus divided into one thousand one hundred and eighty recensions.

Each Veda consists of four parts: the Mantra-Samhitas or hymns, the Brahmanas or explanations of Mantras or rituals, the Aranyakas, and the Upanishads. The division of the Vedas into four parts is to suit the four stages in a man's life.

The Mantra-Samhitas are hymns in praise of the Vedic God for attaining material prosperity here and happiness hereafter. They are metrical poems comprising prayers, hymns and incantations addressed to various deities, both subjective and objective. The Mantra portion of the Vedas is useful for the Brahmacharins.

The Rig-Veda Samhita is the grandest book of the Hindus, the oldest and the best. It is the Great Indian Bible, which no Hindu would forget to adore from the core of his heart. Its style, the language and the tone are most beautiful and mysterious. Its immortal Mantras embody the greatest truths of existence, and it is perhaps the greatest treasure in all the scriptural literature of the world. Its priest is called the Hotri.

The Yajur-Veda Samhita is mostly in prose and is meant to be used by the Adhvaryu, the Yajur-Vedic priest, for superfluous explanations of the rites in sacrifices, supplementing the Rig-Vedic Mantras.

The Sama-Veda Samhita is mostly borrowed from the Rig-Vedic Samhita, and is meant to be sung by theUdgatri, the Sama Vedic priest, in sacrifices.

The Atharva-Veda Samhita is meant to be used by the Brahma, the Atharva-Vedic priest, to correct the mispronunciations and wrong performances that may accidentally be committed by the other three priests of the sacrifice.

The Brahmana portions guide people to perform sacrificial rites. They are prose explanations of the method of using the Mantras in the Yajna or the sacrifice. The Brahmana portion is suitable for the householders.

There are two Brahmanas to the Rig-Veda-the Aitareya and the Sankhayana. **"The Rig-Veda"**, says Max Muller, **"is the most ancient book of the world. The sacred hymns of the Brahmanas stand unparalleled in the literature of the whole world; and their preservation might well be called miraculous."**

The Satapatha Brahmana belongs to the Sukla-Yajur-Veda. The Krishna-Yajur-Veda has the Taittiriya and the Maitrayana Brahmanas. The Tandya or Panchavimsa, the Shadvimsa, the Chhandogya, the Adbhuta, the Arsheya and the Upanishad Brahmanas belong to the Sama-Veda.

The Brahmana of the Atharva-Veda is called the Gopatha. Each of the Brahmanas has got an Aranyaka.

The Aranyakas are the forest books, the mystical sylvan texts which give philosophical interpretations of the rituals. The Aranyakas are intended for the Vanaprasthas or hermits who prepare themselves for taking Sannyasa.

The Upanishads are the most important portion of the Vedas. The Upanishads contain the essence or the knowledge portion of the Vedas. The philosophy of the Upanishads is sublime, profound, lofty and soul-stirring. The Upanishads speak of the identity of the individual soul and the Supreme Soul. They reveal the most subtle and deep spiritual truths. The Upanishads are useful for the Sannyasins.

The subject matter of the whole Veda is divided into Karma- Kanda, Upasana-Kanda and Jnana-Kanda. The Karma-Kanda or Ritualistic Section deals with various sacrifices and rituals. The Upasana-Kanda or Worship-Section deals with various kinds of worship or meditation. The Jnana-Kanda or Knowledge-Section deals with the highest knowledge of Nirguna Brahman. The Mantras and the Brahmanas constitute Karma-Kanda; the Aranyakas Upasana-Kanda; and the Upanishads Jnana-Kanda.

THE ESSENCE OF THE VEDAS

Live in the spirit of the teachings of the Vedas. Learn to discriminate between the permanent and the impermanent. Behold the Self in all beings, in all objects. Names and forms are illusory. Therefore sublate them. Feel that there is nothing but the Self. Share what you have,-physical, mental, moral or spiritual,-with all. Serve the Self in all. Feel when you serve others, that you are serving your own Self. Love thy neighbour as thyself. Melt all illusory differences. Remove all barriers that separate man from man. Mix with all. Embrace all. Destroy the sex-idea and body-idea by constantly thinking of the Self or the sexless, bodiless Atman. Fix the mind on the Self when you work. This is the essence of the teachings of the Vedas and sages of yore. This is real, eternal life in Atman. Put these things in practice in the daily battle of life. You will shine as a dynamic Yogi or a Jivanmukta. There is no doubt of this.

Veda means truth. Truth is something unchanging it is the same today and tomorrow. Through billions of years of change of ideas coming and going of bodies coming and going of seasons of nations of planets, galaxies, universes, truth remains one.

Vedic knowledge is based on absolute understanding of reality as it has been perceived by divine Rshis and revealed directly from the source of all. Our so called "modern" knowledge systems give us what appears to be advancement but the price tag is the ultimate destruction of nature and much more.

Vedic wisdom is here, has always been here, will always be here. It can not be destroyed as

it's source is the source of all. Even if all books were lost if all memory was lost, it would re-appear for higher beings would take human birth to remind us this is the map of the universe this is the path of creation.

So when one awakens from the deep sleep that is living without proper wisdom and proper guidance, one realizes that there are pools of knowledge that have always been available and they are always there when one is ready.

The soul is always ready, it always remembers from where it has come and to where it will return but the mind gets clouded by overloaded highways of information feeding the senses and ultimate confusion prevails.

Vedic wisdom is here to bring clarity, the ultimate answer the full stop. The ocean of wisdom is vast but it is one ocean, you can swim on the shore, you can dive deep you can play in the pools but the ocean is one.

So walk with us on this journey to discover the self, to realize the absolute aim of life, to surrender totally to the supreme to live with eternal wisdom, with flawless understanding and with perfect guidance. The End.

A STUDY OF GRANTSS OF SANGRAMANVARMAN

(A.D. 1442 - 1469A.D.)

Prof. Sharda Gupta
Deptt. of Sanskrit,
University of Jammu.

This papers is an attempt for producing a critical study of the grants of Sainagramavarman. These grants have been published in the the memories of Archaeological Survey of India 72. Antinquities of Chambas State. These grants are now preserved at Bhuri Singh Museum at Chamba. Samgramavarman was son of Bhotavarman and grand son of Manikyavrman and great grand son of Vairisimhavarman. Jijli Devi was hiss mother and wife of Bhotaverman. Only three copper plate grants belong to kind are available. These plates are :

1. Baken Plate of Samgramaverman.
2. Sangramaverman is grant to Badu Logha.
3. Mindha Plate of Samgramaverman.

All the three plates are now kept in Bhuri Singh Museum at Chamba.

PLATE NO. 1

It measures 11´´ wide by 5-7/8´´ high and has no handle and no seal. It was broken into two

pieces which have been now railed together so as to form one whole. In its left corner as well as in its middle, it is slightly chipped off, so few syllables have been completely lost. This plate seems to be suffered from fire, as it looks very singed. So the writing on it has before a considerable part been blurred and cannot be read out entirely. the engraving has been rather language is partly Sanskrit and partly Chambyali, aboundings in mistakes.

CONTENTS

As regards the objects of the inscription though much of the part containing important details has been lost. Yet the preserved portion gives out that the inscription recorded the gift of a Village named Bhitera by the King Samgramavarman to a Brahman named Kahnararman. The incription further refers to one village in Mahila Pargana, but it is not clear in what connection that has been referred to. Perhaps some additional land was granted to the same donee, as is also indicated by a further mention of 6 Kunus in line 11. The writter of the grant was Pandit Rama 1. (लिख्यं यं रमे)

PLATE NO. 2

It is a well preserved plate, only a very small site has been chipped off from its upper right corner. It measures 7-½″ high by 11″ wide excluding the handle to it its left. It contains all total 17 lines of writing of which lines 14-17 appear in the left margin, made on different occasions, but apparently confirmed and registered on the last occasion when the charter was issued. This last occasion was on Udyapana on the 11th day of the bright fortnight of the month of Jyeshtha in the year 22. It fells that the royal donor, Samgramavarman must have observed fast on that day and made fight at the time of beaking his fast.

Three of others occasions of the donations are definitely stated in the record. They are :- 1. First, when Budu Legha has carried the bone remains of Samgramavarman's father Bhotavarman to Hardwar immerginings them there in the Ganges.

II. Second when Samgramavarman had perfomed the further annual Sradha of his father.

III. Third when Samgramavarman was opoinited King. The details of the gifts are as :- a large tripartite field of wet land, known as Batretiba, in the village of Jakhardi, two fields, called Pati and Nagathoni, at Kiria, four plots of land at Padi in the Hubar Pargana, ones Kunu of land at Chheni, and threes Kunus of Land at Kulodi. The writter of this plate was Pandit Manavaka.

PLATE NO. 3

It measures 5-½″ high by 12-½″ widen and is in a good state of preseryation, except that its handle is broken off and corners are some what damaged. The writting on it covers sixteen lines of which the last containing only the subscription appears in the left margin.

The record is couched in Sanskrit throughout. The composition does show a number of mistakes but on the whole it inscriptions.

CONTENTS

Its object is to register to gift by P.M.P. Samgramavarman of a village named Mimdha, included in the Kirkisindara Mandala, as a perpetual grant to a Brahman named Chipu son of Rasi and grandson of Jiu, belonging to the Bharadwaja gotra with the fine told Pravara and to the Katha Sakha. the record is not dated.

The plates of this region offord no assistance chronologically, as the dates all but one are uncertain.

KING

He was son the King Bhotavarman : 1. King has been said as light of Sotal race. Most Excellent 2. His region is said victorious region 3. Illustrous Paramabhattarka Maharaja-dhiragaya Paraneshvara Samgramavarman, who is highly venerable and pre-eminent among men. He was devoted to worshipping Gods. He was religious minded and kept fasts. Clear from his grant to Budulegha when he made this grant on the occasion of the transmination of the fast of Ekadasi 1. He as devotee of Vishnu as this inscription shows that he made this grant out of devotion to Vishnu and forbears.

Samgramavarman was appointed King when Grant of Badu Legha was issued. His accession to the throne in the year 1442. A.D. Because it is said that one gift of land was given at the fourth annual sradha of his father. This means that Samgramavarman become king in 1442 after the death of his father and this grant has been issued later on. Because if Bhotavarman is fourth annual Sradha was performed in 1446 A.D it proves that he died four year later i.e. 1442 A.D.Samgramavarman's Kingdom was Champaka as the inscription says illustrious King Samgramavarman issues this grant from his residence at the glorious city of Champaka 1. He was a great patron of Brahmanas. He was respectful towards Brahmans and elders. This indicates that he was polite in his behavour. He was friendly towards the distressed the blind, the miserable the submissive and the portion. He was a learned who studied all sastras. As he discomfiled the best learned in discussions. He was a famous king whose fame spread far and wide. As the inscription says his fame like bright moon beams has illuminated the entire space with the effusion of his glory. He was a sincere friend and has a habit to uplifts his friends. This means he has friends too, but there is no other discription of friends 1.

He might have enemies whom he distroyed completely and his enemies feared of his as he has been compared as connet to his enemies. He has a rich treasury which was full of Gems. This means his empire was rich and Prosperous. As inscription 3 says that he is the very mention Rohana with regards to his accoumulation of brilight Gems. He was a truthful King. So he is compared with Yudhigh thira. This indicates that he was Just. Samgramavarman was powerfulruler, as insscription says him Bhim in Stength.

His conduct is compared in the inscription ot Arjun's .This suggests that he had a good conduct.

He was a generous King. His generousity is compared with Karna's. This means that Samgramavarman used to given charities.

He was an intelligent king, who is said Vidur in exucerance of intelligence.

He was full of devotion to his parents. He followed the behaviour of Rama Chandra's. His

sentiments of devotion to hiss parents. This shows that he was an obedient and dutiful son.

Samgramavarman has said a foremost guardian of the world. This shows that he bestowed the qualities of for the projection of his subject form all the dangers.

He belongs to Mushan dynasty. He has been called as an ornament of the lineage of Mushan.

He was a famous King whose fame is wide spread. He was the son of Bhotandeva, as in the inscription it is said that he mediates on the feet of P.M.P. illustrious Bhotavardeva.

Queen Jijilidevi was the mother of Samgramavarman, as inscription says that he born of the womb of Maharani Jijilidevi burn of the milkyancean.

He is compared to wish-yielding divine tree. This signifies that as 'Kalpa-taru' gives all things of need, Samgramavarman fulfilled the all desires.

In this way these inscription tells us that King Samgramavarman was a brave, kind and devotee king.

B-OTHER INFORMATIONS

As these inscription tells us about the donation and the occasion of the donation, even then from few words we can imagine about the society and the culture of that time.

1. CASTE SYSTEM

The grants were given to different persons but tell us that donees were Brahman. In inscription 1. Donee is KahnaSarman. In theinscription 2nd donee is Badu Legha and in the 3rd inscription the donee is Brahman Chipu.

The names of these persons with their surnames tell us that Sarman, Badu weres subeantes of Berahmans, we found the name of Brahmans as a receiving the gifts of land and in all the three insriptions the wirters of the charter and Brahmans. They may be Pandit Damodarvor Pandit Nananoka 2 or Pandit Rama 3. Thus we can imagine that Brahmanss receive gifts and they write Royal orders too. Brahamans were Priest they perform preiestly rites. Word Brahaman in the inscription points out towards the caste system of that time. Though there is no description of ohter castes yet it enables us to think that there must be other castes at that time. The word indicates towards "Kshtriyas" King belongs to this caste. Brahamans were known from their gotras and other qualities. As in 3rd inscription "Chipu" is called of Bharadwaja gotra with the fine fold Pravara. He was a Yayurvad in Brahaman as he belonged tl Kath Sokha. Thus it tells us that different Brahamans belongs to the different vedas and known with thats name. The word tells us that there was a class of artisian by the society who work as engraner. They were copper smiths. Usually coppersmith works with metal brass and iron. This indicates these was use of iron and Brass metals too.

2. BRAHAMANS

Were respectable and one of the learned persons, they perform all the religious rites :- As Badu Legha immersed the boness of king in Ganges. The king were the patron of Brahamans.

3. KIND OF GRANTS : grants were of two kinds :-

1. One is rent free. 2. Not free from rent.

All the three grants of Samgramavarman are rent free and perpetual grants. It has been explained in the grants. This tells us that some grants were not perpetual they were given for somes time. Grants weres given either in form of villages or as piece of land as :-

In Bakan Plate village Bhitera and one villages in Maihla Pargna has been given. In Budu Legha grant different pieces of land were given as one piece of land called as Batretika in village Jakhardi, two field/named Pati and Nagathani in Kiria, two plots of land at Padi village, one Kunu land at Chnni and three Kunuss of land at Kulodi village. In Mindha Plate village Mindha has been given. The boundaries of the lands were also explained as in Ist plate the boundries have been written but that portion is not eligible. In the 2nd plate the boundries are as followes :- one extensive tripartite field of wetland Batrotika, inwards from the large brook Kasvada in the village of Jakharadi, two fields at Kiria called Pati and Nagathani below the large rock of Drekati and above the path of Raikogha and four parcels of land where 32 dronas of Paddy seed can be sown, including the Pipal tree on the Tumda stream near Chududu, at the village of Padi in Hubar Mandal and 1 Kunu at a Ali, three kunus of land where 3 Padas of Paddy seed can be sown at the village of Kulodi.

4. DIVISION OF KINGDOM

Though theres is no clear indication about the administrative system yet the same words enable us to think about it. Perhaps the whole empire had been divided into different units likes Province, districts, city and villages. Only the words Champok, Mandal, Pargana and villagess occurs in these inscription. This suggests that the whole empire was divided into these units. Mandal or Pragana and then these in to villages. Because the granted villages or lands of the villages have been said in village of Mandal as this helps us to know that Mandal or Pragana are used in the same sense. Village was the smallest unit of the administration.

5. IRRIGATION

In these inscription there is no line which can tell us about the irrigation system. The words etc. suggest that these brooks and streams were used to irrigate the fields. As in other grants there is clear indication about water of the streams and brooks.

6. OCCUPATIONS

Agriculture was one of the occupations of people. This is told by the grants of the lands. People tamed animals also as these is discription of Pasture land and cattle tracks. Brahamans perform religious duties. Some people were copper smith too. Thus we can guess that there must be other occupations of people but in these grants do not point out them.

7. EDUCATION

These grants gave not indication about the education of people. But from the language of the grants with reference of writers and engraves of the grants we can guess that people were educated and they have the knowledge of Sharam and Shastras too. Because in all the three grants the customery verses from Dharma sastras. And one reference about the king thats he discomited the best among learned in discussing sastras sugests that were some people who have the knowledge

of all sastras.

8. The language of these grants points out that during that time Sanskrit Bhasha was popular. the Royal instructions were given in this language and local dialect Chamyali was also in use. As in Grants the Language is partly Sanskrit and partly Chanbyali -

9. RELIGIONS

These inscription throw lights on the religion of that itme too. As in all inscriptionss there is salute to Ganesa. This means people worshiped Lord Ganesa. In two inscription he has been called Lord of Ganesa or Ganapati. In ones plate Samgramvarman has granted a piece of land out of devotion to Vishnu, which shows that Vaishvism was also popular. Though there is no clear information about any religion yet we can imagine the popularity of Hinduism in the society.

People were religious minded and they do every thing according to their religion. As Pitri Pooja, Sardha. Udyapana etc. They made grant out of devotion to forevers, on the occasion of the termination of the fasts. As king has given a gift of land on the occasion of Ekadasi Udyapana. The reference of Ekadasi tells us that ats the time of Samgramvarman people used to keep fast like Ekadasi etc. The performance of annual Sradha was also common people. As king hass given a gift of land on the fourth annual Sraddha i9f his father. The tradition of the immersion of bone-remains of a dead-body in Gangas at Haridwar was also popular at that time. As one inscription says that king Samgramvarman has given a gift of land to Badu Legha who immersed the bones of king Bhotavarman at Haridwar. This reference emables us to know thats at that time there was tradition of burning thedead bodies like these days.

10. FOOD

There is no clear information for the foodss of people the word " " in these grants helps us to think thats rice and milk were the main things in their diet.

11. TREE AND ANIMAL

Only one word has occured in the inscription which tells us the existences of Pipal tree at that time. Theres was clear references of the cows. There might be other animals as the words cattle has occured in the inscription but cows were useful and respectiable animal at that time as in the beginning of one inscription said that let there be prosperity forever to cows.

12. MEASUREMENTS

During the time of Samgramvarman there were different measures for measuring as Kunu, drown Peda etc. Kunu mights be a measurement of land while drown Peda must be measures of grain. As in one grant it iss said 3 Kunu of Land one Kunu of land. And parcels of land where 32 drowns of Paddy seed can be sown or 3 Kunus of lands where 3 Padas of Paddy seed can been sown. Thus we can think that during that time land was measured but the sowning of seeds also as said in the grant.

13. IDENTIFICATION OF PLACES

CHAMPAK : Chamba District in Himachal Pradesh.

BHISTERA	:	This village has been donated by the king Samgramvarman. Thisdonated village is possible indenticval with Bhatera in Bakani Pargana.
MAIHLA	:	In the Plate of Bakan there is of one village in Mahila Pargana too. TheMahila Pargana now knownass Mohla is adjacent to the Bakani Pargana.
JAKHADI	:	The locality mention in Badu Legha grant Jakhradiis indenticla with modern Jukhoradi in the Panjla Pargana of the ChambaWazarat.
KIRIA	:	Kiria is now called kiriha and is in the Pargana of Panjla.
PADI	:	Padi is probably a mistake for Sapadi or Sapadi, which village is in the Hubar Pargana of the Bhattiyat Wazarat.
CHUDUDU	:	Chududu is a village in the Hubar Pargana and at present known as Chadadu.
KULODI	:	Kulodi is a village as mentioned in the inscription but locality can not be indentified.
MINDHA	:	Mindha is a village in Kiri Kisindara Mandal while at present this village Mindha is in Panjla Pargana.
KIRIKISINDARA	:	Kirikishindara is indentical with Kiria and now known as Kariha. This village was formerly the headquarterss of separate Pargana having the name Kirikisindara or simply Kiria, but now that Pargana forms a part of the Panjla Pargana with in which Kirisha is a village.
MUGALA	:	Mugala a boundary village retains its name to this day and is also in the Panjla Pargana.

The End

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

वाङ्मय गौरवम् 'संस्कृत शोध संस्थान जम्मू' की त्रैमासिक पत्रिका है। जो जम्मू काश्मीर संस्कृत परिषद् द्वारा प्रकाशित की जाती है। यह प्रमुख रूप से वेद, संस्कृत वाङ्मय के वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, योग, आयुर्वेद, पाण्डुलिपियों तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसंकल्प है। शोधकर्ता अपना शोधपत्र संस्कृत, हिन्दी अथवा अंग्रजी में भेज सकते हैं। **वाङ्मय गौरवम्** में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे उतरें।

वाङ्मय गौरवम् में केवल वही शोध-निबन्ध प्रकाशित किये जायेंगे जिन में शोध-प्रविधि का प्रयोग किया गया हो।

१. शोध निबन्ध अधिकतम ४०००-५००० शब्दों में हो तथा १५० शब्दों का सारांश भी प्रेषित करें।
२. शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित होना चाहियें। साथ ही उस में अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १० से अधिक प्रमाण होने चाहिये।
३. निबन्ध माइक्रोसाफ्ट वर्ड डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें। फुटनोट ALT+CTRL+F के माध्यम से डालें।
४. हिन्दी एवं संस्कृत के शोधनिबन्ध Pagemaker कृतिदेव ०१० अथवा कृतिदेव ०२५ के साइज १३ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त शोधन करके सी. डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।
५. सी. डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की प्रति (Hard Copy) प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके। **ईमेलः** jksanskritparishad@gmail.com or jksanskritsociety@gmail.com
६. शोध पत्रों की स्वीकृति एवं अस्वीकृति का अन्तिम निर्णय सम्बन्धित विषय के दो विशेषज्ञों की सहमति (Expert comments) से संपादक मण्डल द्वारा लिया जायेगा। इस सम्बन्ध में अन्तिम अधिकार प्रतुख सम्पादक को प्राप्त है जो सभी सदस्यों को मान्य होगा।
७. शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित नहीं होना चाहिये।
८. शोध निबन्ध के प्रकाशन हेतु संपादक के नाम पत्र जिस में शोध निबन्ध की मौलिकता एवं अप्रकाशित होने का स्पष्टीकरण होना चाहिये। स्पष्टीकरण प्रमाण(certification of originality) पत्र को प्रकाशन कार्यालय से प्राप्त कर के शोध निबन्ध के साथ प्रेषित करना होगा।
९. शोध निबन्ध प्रकाशित करने हेतु सदस्यता लेनी अनिवार्य होगी।
१०. सदस्यता प्राप्त करने एवं शोध निबन्ध प्रकाशित करने हेतु पत्रिका व्यवस्थापक से सम्पर्क कर सकते हैं।

डॉ बलदेव चन्द
व्यवस्थापक
वाङ्मय गौरवम्
सम्पर्क सूत्र : ९४१९८२२७३५
ईमेलः jksanskritsociety@gmail.com,
jksanskritacademy@gmail.com



जम्मू काश्मीर संस्कृत परिषद,
42/11 बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-181123
सम्पर्क सूत्र- 9419147073, 9419221735